



विरोध के सिवा और कोई रास्ता बचा ही नहीं है

2,3

मक्का समझौता लागू करने की वजह समझें

3

www.navjivanindia.com | @navjivanindia | www.nationalheraldindia.com | www.qaumiawaz.com



ऐनी कार्सन को नोबेल 8

मुफ़ाबले का शंखनाद



कितनों को अरेस्ट करोगे, अमित शाह ? !”

—अभिजीत दिपके, सीजेपी, दिल्ली में 10 अक्टूबर के प्रदर्शन से पहले

उन्हें लगता है कि वे जब चाहें हमें पीट सकते हैं, जब चाहें हिरासत में ले सकते हैं, आधी रात को 50 किलोमीटर दूर लावारिस छोड़ सकते हैं... वे भूल जाते हैं कि हम इस देश के नागरिक हैं, और हमें सवाल पूछने और यह जानने का पूरा अधिकार है कि हमारे वोट के साथ क्या हुआ !”

—नेहा बोरा, आइसा राष्ट्रीय अध्यक्ष



मेरे खिलाफ 45 एफआईआर दर्ज हैं... मेरा लक्ष्य 100 का है। मेरे खिलाफ दर्ज हर एफआईआर मेरे लिए एक मडल की तरह है।

—राहुल गांधी, आकाशवाणी भवन परिसर में जबरन दाखिल होने के आरोप में मामला दर्ज होने के बाद



ये डंडा नहीं, तिरंगा है। इसे छूना नहीं !”

—प्रियंका गांधी, जब कथित तौर पर एक पुलिस अधिकारी ने राष्ट्रीय ध्वज लगे डंडे को हटाने के लिए प्रदर्शनकारियों से कहा



जब आप 18,000 फुट की बर्फ जमी चोटी पर खड़े होकर अपने महान देश की सीमाओं की हिफाजत करते हैं, तब आपकी पहचान पर कभी कोई सवाल नहीं उठता !”

—कर्नल (सेवानिवृत्त) राजेश कालिया के ‘द वायर’ में लिखे संस्मरण से, जिसमें उन्होंने सीमाओं की रक्षा के बरसों के अनुभव और एसआईआर के दौरान पहचान साबित करने की मजबूरी के बीच का अंतर बताया। कालिया सेना के पूर्व अधिकारी हैं जिन्होंने 37 वर्षों तक सेवा दी, जिसमें सियाचिन, जम्मू-कश्मीर, पूर्वोत्तर और श्रीलंका के मोर्चे शामिल रहे। वह जनवरी 2025 में सेवानिवृत्त हुए



सड़कों पर गूंजते नारे

- “ज्ञानेश, इट्स डन, ब्रो!”
- “जब-जब मोदी डरता है, पुलिस को आगे करता है।”

“ज्ञानेश कुमार कहां मिलेंगे? मोदीजी की गोदी में”

—किजसेव कैप थाने में हिरासत में लिए गए विपक्षी नेता

अगर चुनाव आयोग को अब अपनी ही मतदाता सूची में इतनी भारी गलतियां मिली हैं, तो आखिर कार्रवाई किस पर हो रही है?”

—पारदर्शिता अधिकार कार्यकर्ता अंजलि भारद्वाज, जिन्होंने पूर्व में प्रमाणित और चुनावों में इस्तेमाल की गई सूचियों के लिए चुनाव आयोग की जवाबदेही तय करने की मांग की



आप हमें सरकार मुहैया कराते हैं... बिल्किट का काम कर रहे हैं...”

—मनोज झा आरजेडी सांसद



बिगुल बज चुका, अंत निकट

अपूर्वार्जुन

व्या विरोध-प्रदर्शनों से कोई बदलाव आ सकता है? पिछले तीन महीनों में यह सवाल मेरे सामने बार-बार आया है, खासकर जुलाई के बाद से, जब देश के कोने-कोने से हजारों की तादाद में युवा जंतर-मंतर पर उमड़ पड़े और सरकार को मजबूरन शिक्षा मंत्री का इस्तीफा लेना पड़ा।

यह डींग हांकना कि ‘इस सरकार में इस्तीफे नहीं होते’, मजाक बनकर रह गया और सरकार ऐसी घिरी कि आखिरकार उसे धमैदा प्रधान की बलि देनी पड़ी। यह और बात है कि सरकार ने इस इस्तीफे को युवा आंदोलन द्वारा फैलाई गई तथाकथित ‘अराजकता’ से देश को बचाने के बड़े हित में उठाए गए एक ‘नैतिक कदम’ के रूप में पेश करने की कोशिश की। लेकिन सरकार के घुटने टेकने को जनता ने वैसे ही देखा जो वास्तव में था- दृढ़ प्रतिरोध के आगे समर्पण।

यह अपने आप में बड़ा बदलाव था। यह पहली बार नहीं था जब मोदी सरकार को थुककर चाटना पड़ा हो। पंजाब और हरियाणा के किसान जब दिल्ली की सीमाओं पर साल भर डटे रहे और सरकार को तीनों कृषि कानूनों को वापस लेने पर मजबूर करके ही माने, तब



कानून (सीएए) के खिलाफ आंदोलन हुआ था। बेशक उस आंदोलन को कोविड महामारी के चलते रोकना पड़ा, लेकिन यह मानना होगा कि आंदोलन सरकार-समर्थित हिन्दुत्ववादी तत्वों की बर्बर कार्रवाई के बाद भी सरकार को पीछे धकेलने में कामयाब रहा। सीएए के तहत नियम बनाने में देरी करनी पड़ी और लोगों को छोटकर बाहर करने वाले एनआरसी की कवायद को टंडे बस्ते में डालना पड़ा।

ये प्रतिरोध के ऐतिहासिक और साहसिक कदम थे। लेकिन वे जुलाई के जंतर-मंतर आंदोलन जैसी सर्वव्यापकता हासिल नहीं कर सके। जहां पिछले आंदोलनों की जनता के ही कुछ तबकों की नाराजगी और विरोध का सामना करना पड़ा, वहीं जंतर-मंतर के प्रदर्शनों को व्यापक जन-समर्थन हासिल हुआ। ये युवा किसी भी ऐसे पहचान-चिह्न से पूरी तरह मुक्त थे जो समाज के किसी वर्ग को बेगाना महसूस कराए, इसलिए वे सबको अपने लगे। यही कारण हो सकता है कि जंतर-मंतर के प्रदर्शनों में वह सर्वसमावेशी अपील थी जो दूसरे आंदोलनों में नदारद रही।

जंतर-मंतर ने एक खौफनाक और अजेय

समझे जाने वाले ‘सर्वोच्च’ नेता की साख पर ऐसी गहरी चोट की जैसी पहले किसी आंदोलन से नहीं हुई थी। इसने उस मीडिया-निर्मित धुंध को भी उड़ा दिया जिसने मोदी के असली चेहरे पर पर्दा डाल रखा था। ऐसा क्यों और कैसे हुआ, इसे शब्दों में बांधना आसान नहीं। हम केवल यही देख और बयां कर सकते हैं कि क्या हो रहा है, और यह सोच सकते हैं कि यह ऐतिहासिक क्षण आगे के लिए क्या नई संभावनाएं खोलता है।

जंतर-मंतर के इस जन-आंदोलन के ठीक बाद भारत निर्वाचन आयोग के कारनामों पर ‘द इंडियन एक्सप्रेस’ के सनसनीखेज खुलासे ने मोदी सरकार की वैधता को पूरी तरह ध्वस्त कर दिया है। इसने मौजूदा विरोध-प्रदर्शनों की राह को कुछ हद तक आसान बना दिया है। लोग अब इन प्रदर्शनों से खुद को जुड़ा महसूस करने लगे हैं और इन्हें किसी खास राजनीतिक दल के स्वार्थ के रूप में नहीं देखते।

अब जब माहौल साफ हो चुका है, तो लोग राहुल गांधी जैसे नेताओं को स्पष्ट देख और सुन पा रहे हैं। सरकार और आरएसएस के खिलाफ बोलने वाले नेताओं को लेकर मीडिया ने जो नकारात्मक छवि बनाई थी-जिसने अधिकतर हिन्दुओं को उन्हें अपनी आवाज मानने से रोक रखा था-वह अब गायब हो चुकी है। राहुल गांधी अब एक स्वाभाविक विकल्प का चेहरा बन चुके हैं। पिछले तेरह वर्षों में पहली बार सरकार पूरी तरह अलग-थलग और रक्षात्मक मुद्रा में दिख पा लिया है

बहुसंख्यकवादी उन्माद नहीं भड़का पा रही है जैसा वह पहले करने में कामयाब रहती थी। राजनीतिक रूप से खुद को लाचार पाकर, इस निरंकुश सत्ता प्रतिष्ठान ने प्रदर्शनों से निपटने के लिए सरकारी एजेंसियों को खुला छोड़ दिया है। ऐसी खबरें हैं कि दिल्ली पुलिस खुद प्रदर्शनों के खिलाफ सक्रिय रूप से दुष्प्रचार कर रही है। यह उसका काम नहीं है। वह अपने अधिकार क्षेत्र से बाहर जा रही है। अब यह देखना बाकी है कि क्या अदालतें भी सत्ता के सुर में सुर मिलाएंगी या इस ऐतिहासिक क्षण का लाभ उठाकर स्वतंत्र रख अपनाएंगी।

जनता के मन से डर और झिझक खत्म हो चुकी है। लोग विरोध करने के अपने बुनियादी अधिकार को फिर से हासिल कर रहे हैं और एक नई आजादी का अहसास जी रहे हैं। वे प्रदर्शनों के लिए प्रशासनिक अनुमति मांगने से साफ इनकार कर रहे हैं। ऐसा लगता है मानो वे एक बार फिर खुद को पूरा और ईसान महसूस करने लगे हैं।

ये विरोध-प्रदर्शन अब थमने वाले नहीं। भाजपा ने मीडिया, कॉरपोरेट जगत और न्यायपालिका के सक्रिय सहयोग से सत्ता का जो विशाल महल खड़ा किया था, ये आंदोलन उस पर लगातार हथौड़े बरसाते रहेंगे। वह ढह रहा है और उसका गिरना बिल्कुल तय है। अब मीडिया, सरकारी तंत्र और न्यायपालिका को तय करना है कि वे इस जकड़न से आजाद होकर स्वतंत्र रूप से सांस लेना चाहते हैं या फिर इस ऐतिहासिक पतन का हिस्सा बनना चाहते हैं। ■

गांधी के विरोध प्रदर्शन से मोदी के लिए सबक

जब नागरिकों का एक काफ़ी बड़ा हिस्सा सड़कों पर उतर आता है, तो सरकार को झुकना ही पड़ता है। चंपारण सत्याग्रह को याद कीजिए

आकार पटेल

गांधी जयंती को अभी कुछ ही दिन हुए हैं। ऐसे मौके पर शांतिपूर्ण ढंग से इकट्ठा होने के अधिकार की चर्चा फिर से हो रही है। तो, आइए कुछ ऐसी बातों पर नज़र डालें जो आज के संदर्भ में अहम हैं। जिस समय मैं यह लिख रहा हूँ, उसी समय मोदी सरकार प्रदर्शनकारियों को इकट्ठा होने से रोक रही है, क्योंकि वह मुख्य चुनाव आयुक्त को जवाबदेही से बचाना चाहती है। मुख्य चुनाव आयुक्त के आचरण और व्यवहार को लेकर अब कोई संदेह नहीं रहा है। तथ्य हमारे सामने हैं, लेकिन सरकार ने वही रवैया अपनाया है जिसे हम भारतीय ‘जो करना है, कर लो’ कहते हैं। क्या यह रवैया लंबे समय तक चल सकता है? इस पर हम बाद में बात करेंगे, लेकिन पहले एक दूसरी बात।

महात्मा गांधी ने भारत में पहला विरोध प्रदर्शन 1917 में किया था, जब वह 47 साल के थे। उन्हें जानकारी मिली थी कि चंपारण के काश्तकार किसानों को ‘तिनकठिया’ नाम की व्यवस्था के तहत अपनी ज़मीन के 15 प्रतिशत हिस्से पर नील की खेती करने के लिए उनकी मर्जी या सहमति के बिना कानूनन मजबूर किया जाता है।

अंग्रेज़ों को जल्द ही समझ आ गया कि इस स्थिति में जीतना मुमकिन नहीं है। गांधीजी लिखते हैं:

“इससे पहले कि मैं सज़ा सुनने के लिए कोर्ट में पेश हो पाता, मजिस्ट्रेट ने एक लिखित संदेश भेजा कि लेफ्टिनेंट गवर्नर ने मेरे खिलाफ़ केस वापस लेने का आदेश दिया है। कलेक्टर ने मुझे लिखा कि मैं प्रस्तावित जांच करने के लिए आज़ाद हूँ और अधिकारियों से मुझे जो भी मदद

चाहिए, वह मिल सकती है। हममें से कोई भी इस तेज़ी से हुए सुखद नतीजे के लिए तैयार नहीं था। किसान अपने बयान देने के लिए बड़ी संख्या में आए, और उनके साथ साथियों का एक बड़ा समूह भी था, जिससे पूरा परिसर और बगीचा खचाखच भर गया।”

ध्यान देने वाली बात यह है कि उस समय ब्रिटिश सरकार ने सहानुभूति दिखाई। गांधीजी लिखते हैं:

“अपना बयान देने के लिए आने वाले किसानों की बढ़ती संख्या ने बागान मालिकों के गुस्से को और बढ़ा दिया, और उन्होंने मेरी जांच को रोकने के लिए हर संभव कोशिश की। लेकिन लेफ्टिनेंट गवर्नर सर एडवर्ड गेट ने मुझे मिलने के लिए बुलाया,

जांच बिठाने की इच्छा जताई और मुझे कमेटी का सदस्य बनने के लिए आमंत्रित किया। कमेटी ने किसानों के पक्ष में वोट दिया और सिफारिश की कि बागान मालिकों को उन जबरन वसूली गई रकम का कुछ हिस्सा वापस करना चाहिए जिसे कमेटी ने गैर-कानूनी पाया था, और यह भी कहा कि तिनकठिया व्यवस्था को कानूनन खत्म कर दिया जाना चाहिए।”

इस तरह, लगभग एक सदी से चली आ रही तिनकठिया व्यवस्था खत्म हो गई और इसके साथ ही बागान मालिकों का राज भी समाप्त हो गया। सरकार को इसी तरह काम करना चाहिए: उसे शांतिपूर्ण ढंग से इकट्ठा होने और विरोध करने का अधिकार देना चाहिए और अन्याय को दूर करना चाहिए। आइए, अब आज की बात करते हैं। मोदी सरकार को जवाबदेही का सिद्धांत मानना पड़ा, जब उसने परीक्षा प्रणाली के खराब कामकाज के कारण धर्मेद्र प्रधान को हटा दिया। यह कदम तब उठाया गया जब यह साफ़ हो गया कि सरकार का रवैया—जिसमें प्रधानमंत्री के इंस्टाग्राम वीडियो भी शामिल थे—प्रदर्शनकारियों को मंज़ूर नहीं था।

सरकार अब मुख्य चुनाव आयुक्त को हटाने की मांग का विरोध कर रही है। भाजपा के लिए वह बहुत अहम हैं, जैसा कि हमने न सिर्फ़ एसआईआर से जुड़े विवाद में, बल्कि विपक्षी पार्टियों के प्रति उनके बर्ताव में भी देखा है।

एसआईआर के मामले में सरकार का तेज़ी से पीछे हटना यह दिखाता है कि सरकार घबरा गई है और छोटी-मोटी रियायतें देकर लोगों का गुस्सा शांत करना चाहती है। जैसे कि प्रक्रिया में थोड़ा बदलाव कर दिया, या कोई नया फ़ॉर्म भरवा लिया। देश के तमाम हिस्सों में चुनाव आयोग



महात्मा गांधी चंपारण में अपने 1917 के तथ्य-खोज अभियान के दौरान

और सीआईसी ज्ञानेश कुमार के खिलाफ लोग सड़कों पर उतर आए हैं

अफ़सोस, यह तरीका काम नहीं आया, क्योंकि लोगों ने देख लिया है कि वोटर लिस्ट का घोटाला कितना गंभीर है। सरकार के लिए मुश्किल यह है कि जब जनता का एक बड़ा हिस्सा सड़कों पर उतर आता है, तो सरकार को झुकना ही पड़ता है। ऐसा किसानों के मामले में हुआ, एनआरसी के मुद्दे पर हुआ और धर्मेद्र प्रधान के मामले

में भी हुआ। ऐसा फिर होगा, क्योंकि कोई दूसरा विकल्प नहीं है। ज्ञानेश कुमार का कार्यकाल अभी ढाई साल और बाकी है, यानी जनवरी 2029 तक; और यह मुश्किल ही लगता है कि सरकार उन्हें तब तक बनाए रख पाएगी, भले ही वह मोदी के लिए कितने भी खास क्यों न हों।

अगर प्रदर्शनकारी एकजुट बने रहते हैं, तो सरकार को आखिरकार सही कदम उठाने और जवाबदेही के

सिद्धांत को फिर से मानने के लिए मजबूर होना पड़ेगा।

यह बात सुनने में अजीब लग सकती है, लेकिन यह बिल्कुल सही है: मोदी सरकार को चंपारण में गांधीजी के साथ ब्रिटिश राज के बर्ताव से सीख लेनी चाहिए। शांतिपूर्ण तरीके से इकट्ठा होने के अधिकार को स्वीकार करें; करोड़ों वोटरों के साथ हुए अन्याय को सुधारें; और इसके लिए जिम्मेदार व्यक्ति को सज़ा दें। ■



नंदीग्राम में ज़मीन अधिग्रहण के खिलाफ़ 2007 का विरोध प्रदर्शन ममता बनर्जी के राजनीतिक कैरियर का एक अहम मोड़ था

जवाहर सरकार

कोलकाता के लिए 1960 का दशक जन-आक्रोश का दौर था। नक्सली हिंसा शहर तक पहुंच चुकी थी। शायद ही कोई ऐसा दिन गुजरता था जब कई-कई जलूस सड़कों का दम न घोटते हों। मशीनगनों से लैस सतर्क जवानों से भरे सेना के ट्रक धीमी गति से गश्त करते थे। गलियों से रह-हरकर नारे बुलंद होते और चुनी हुई सरकारें टिक नहीं पा रही थीं।

कह सकते हैं कि नागरिक अशांति इस शहर के डीएनए में है। 19वीं सदी का कलकत्ता ब्रिटिश भारत की राजधानी भर नहीं था, बल्कि वह हिन्दू रूढ़िवादिता और पश्चिमी शिक्षा के बीच, तथा प्राचीन मान्यताओं और स्वतंत्रता, समानता एवं बंधुत्व जैसे नए विचारों के बीच संघर्ष का मैदान भी था। बड़ी संख्या में प्रिंटिंग प्रेस खुले, जिन्होंने अंग्रेजी, बंगाली, हिन्दी और अन्य भारतीय भाषाओं में अनगिनत किताबों, पुस्तिकाओं और वैचारिक पत्रों को छापा, जिसने इन विचारों को शिक्षित वर्ग तक पहुंचाया।

सन् 1818 के शुरू में ही राममोहन राय जैसे प्रगतिशील नेताओं ने अखबारों के जरिये यथास्थिति को चुनौती दी और औपनिवेशिक पैरोकारों एवं ताकतवर हिन्दू रूढ़िवादिता दोनों के खिलाफ संघर्ष किया। ईसाई मिशनरियों ने हिन्दू धर्म की दकियानुसी रीतियों की तीखी आलोचना की और माहौल गहरे तनाव से भर

गया। पाठ्यपुस्तक समितियां, पुस्तकालय, साहित्यिक मंच, सुधारवादी संगठन और राजनीतिक सभाएं तेजी से उभरीं। शिक्षित बंगाली समाज ने याचिकाओं, जनसभाओं और पत्रकारिता के जरिये हुकूमत की नीतियों को चुनौती देना सीखा।

इस नई राजनीतिक संस्कृति का शुरुआती प्रदर्शन 1905 में फूटा, जब वायसराय लॉर्ड कर्जन ने ‘बंगाल विभाजन’ की घोषणा की। आक्रोशित बंगाली सड़कों पर उतर आए, जिनमें अपने प्रेरक गीतों के साथ रवींद्रनाथ टैगोर भी शामिल थे। 7 अगस्त 1905 को कलकत्ता के टाउन हॉल से स्वदेशी आंदोलन की औपचारिक शुरुआत हुई; उधर बनारस में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने ब्रिटिश कपड़ों और सामान के बहिष्कार का आह्वान किया।

चंद हफ्तों के भीतर कलकत्ता बहिष्कार, पिकेटिंग, जनसभाओं और जलूसों से गूंज उठा। 16 अक्तूबर (प्रस्तावित विभाजन की तारीख) को शोक दिवस मनाया गया। यह स्पष्ट हो गया कि ये रैलियां केवल ब्रिटिश-विरोधी प्रदर्शन नहीं थीं, बल्कि राजनीति, संस्कृति, साहित्य, संगीत, शिक्षा, व्यापार और जमीनी लामबंदी जैसे विविध तत्वों को जोड़कर सामाजिक एकता कायम करने की एक नई तकनीक थीं। यह संघम बंगाली राजनीतिक जीवन और आंदोलनों की पहचान बन गया।

दिलचस्प है कि किसी शहर में सड़कों के हिस्से के लिहाज से आज का कोलकाता

बिल्कुल निचले पायदानों पर आता है। दशकों के अनियोजित विकास के चलते भारी भीड़ बढ़ी और रास्ते संकरे होते गए। लेकिन यह स्थिति सार्वजनिक प्रदर्शनों की परंपरा में कभी बाधा नहीं बनी। छोटे-छोटे जलूस अलग-अलग दिशाओं से शहर के केन्द्र की ओर बढ़ते थे, जो रास्ते भर भाषण सुनने और नए लोगों को साथ जोड़ने के लिए रुकते हुए आगे बढ़ते थे। मैदान में शहीद मीनार के आसपास का खुला हिस्सा और पास ही विशाल ब्रिगेड परेड ग्राउंड उन विराट जन-प्रदर्शनों के स्वाभाविक ठिकाने बने, जिन्हें हम पुरानी तस्वीरों में देखते हैं। अनियंत्रित भीड़ को हटाने के लिए अक्सर घुड़सवार पुलिस तैनात की जाती थी।

आजादी के बाद, जब जुलाई 1953 में ट्राम के किराये में महज एक पैसे की वृद्धि हुई, तो ब्रिटिश स्वामित्व वाली कलकत्ता ट्रामवेज कंपनी के खिलाफ लोग सड़कों पर उतर आए। यह विरोध पूरे एक महीने चला; और पुलिस कार्रवाई के जवाब में कई ट्रामों में आग लगा दी गई। जब ट्राम कर्मचारी आंदोलन में शामिल हुए, तो सरकार को विवश होकर किराया वृद्धि की समीक्षा करनी पड़ी।

आज भी बैंक और डाक कर्मचारी, यहां तक कि शिक्षक भी अक्सर प्रदर्शन करते दिख जाते हैं। कई दशकों तक वामपंथी यूनियनों ने नियमित रूप से अपने समर्थकों से दफ्तर

विरोध का अधिकार बताने वाला शहर

देश भर में हो रहे आंदोलनों और ‘दिमागी नक्सलियों’ के खिलाफ हो रही कार्रवाई के बीच कलकत्ता शहर के प्रतिरोध के इतिहास पर एक नज़र

छोड़कर सड़कों पर निकलने और ‘मिछिल’ (जलूस) में शामिल होने का आह्वान किया।

वर्ष 1954 में माध्यमिक शिक्षकों की 10 दिनों की हड़ताल हुई। पुलिस फायरिंग में पांच लोगों की जान गई और कई घायल हुए। जनता के भारी दबाव ने आखिरकार सरकार को शिक्षकों की मांगें मानने पर बाध्य किया। सन् 1959 में कम्युनिस्टों ने खाद्यान्न की बढ़ती कीमतों के खिलाफ आंदोलन किया, जिसमें स्कूल-कॉलेज के छात्र भी शामिल हुए। 31 अगस्त को सेंट्रल कलकत्ता में जुटे एक बड़े प्रदर्शन पर गोलियां चलाई गईं जिसमें 50-100 लोगों के मारे जाने का अनुमान है। 1966 का खाद्य आंदोलन और भी व्यापक था, जब सार्वजनिक वितरण प्रणाली की विफलताओं के खिलाफ यह गोलबंदी जिलों और गांवों तक फैल गई।

सन् 1967 में वामपंथी सत्ता में आए, लेकिन 25 मई को सिलीगुड़ी के पास नक्सलबाड़ी गांव में किसानों की एक रैली पर पुलिस फायरिंग के बाद मार्क्सवादियों का एक धड़ा अलग हो गया। इसने उस सशस्त्र विद्रोह को जन्म दिया जिसे नक्सली आंदोलन कहा जाता है। मुख्यधारा की राजनीति जहां पहले से ही जलूसों और जनसभाओं से जुड़ी थी, वहीं नक्सलवाद ने वर्ग शत्रुओं के खात्मे पर जोर दिया। हिंसा और मौतें आम हो गईं, जहां नक्सली वामपंथियों और कांग्रेस दोनों से लड़ रहे थे। छात्र राजनीति बेहद ताकतवर हुई, और वामपंथी दलों ने अपने 34 वर्षों के शासन में विरोध-प्रदर्शनों को मुख्यधारा में लाकर संस्थागत रूप दे दिया।

21 जुलाई 1993 को पुलिस ने ममता बनर्जी के नेतृत्व में युवा कांग्रेस कार्यकर्ताओं के विरोध मार्च पर गोलियां चलाईं; 13 कार्यकर्ता मारे गए। कांग्रेस पर पर्याप्त आक्रामक न होने का आरोप लगाते हुए बनर्जी ने पार्टी छोड़ दी और तृणमूल कांग्रेस

बनाई। 16 वर्षों तक वह सड़क पर संघर्ष करने वाली झुझारू नेता बनी रही। जुलाई 2006 में उनकी पार्टी ने सिंगूर में टाटा की प्रस्तावित कार फैक्ट्री के लिए भूमि अधिग्रहण के खिलाफ आंदोलन किया। दिसंबर 2006 में ममता बनर्जी की 26 दिनों की भूख हड़ताल ने राष्ट्रीय स्तर पर ध्यान खींचा। नंदीग्राम में भूमि अधिग्रहण के खिलाफ एक प्रदर्शन पर 14 मार्च 2007 को पुलिस ने फायरिंग की, जिसमें 14 लोग मारे गए। इसे वह मोड़ माना जाता है जिसके चलते चार साल बाद तृणमूल कांग्रेस सत्ता में आई।

सिंगूर-नंदीग्राम आंदोलन में बुद्धिजीवियों, लेखकों और कलाकारों ने किसानों, श्रमिकों और छात्रों के साथ कंधे से कंधा मिलाकर संघर्ष किया था और इससे साफ है कि बंगाल की विरोध-संस्कृति वाममोर्चा के लंबे दौर में भी जिंदा रही और उसी ने खुद वामपंथ को सत्ता से बेदखल कर दिया।

विरोध प्रदर्शन

बंगाल के इतिहास

और संस्कृति का अमिज्न अंग

रहे हैं, लेकिन यहां धैर्य बहुत

जल्दी जवाब दे जाता है

विरोध प्रदर्शन

बंगाल के इतिहास

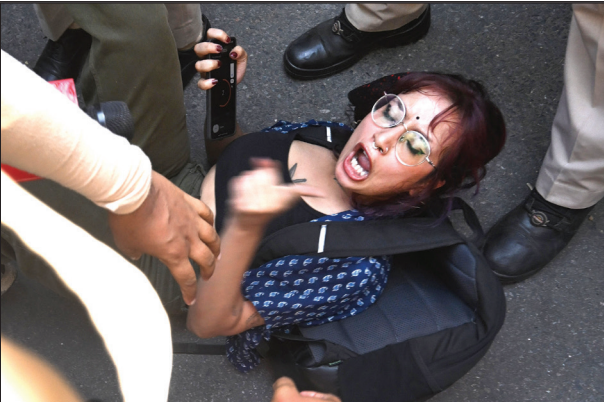
और संस्कृति का अमिज्न अंग

रहे हैं, लेकिन यहां धैर्य बहुत

जल्दी जवाब दे जाता है

जवाहर सरकार पूर्व नौकरशाह और राज्यस्वा सौकर है

इस समाचारपत्र का प्रकाशन **पवन कुमार बंसल** द्वारा हेराल्ड हाउस, 5-ए, बहादुर शाह जफर मार्ग, नई दिल्ली-11002 से **दि एसोसिएटेड जर्नल्स लिमिटेड**, हेराल्ड हाउस, 5-ए, बहादुर शाह जफर मार्ग, नई दिल्ली-110002 की ओर से संपादन **राजेश द्या** द्वारा और मुद्रण आर. सी. मल्होत्रा द्वारा दि ईंडियन एक्सप्रेस (प्रा.) लिमिटेड प्रेस, ए-8, सेक्टर-7, नोएडा- 201301, उत्तर प्रदेश से किया जा रहा है।



सभी फोटो: गैटी इमेजेज

बे.ख़ौफ़, बेबाक, स्वाधीन युवतियों का नया दौर

वे न तो पीछे हटेंगी, न चुप बैठेंगी और न मैदान छोड़ेंगी। लड़ेंगी, अड़ेंगी और अपनी मौजूदगी दर्ज कराएंगी

ए.जे. फिलिप

पत्रकार राजदीप सरदेसाई की किताब ‘2024: द इलेक्शन दैट सरप्राइज्ड इंडिया’ में अमित शाह की पहली चुनावी जीत को लेकर एक दिलचस्प वाक्या दर्ज है। शाह तब छात्र थे और एक कॉलेज चुनाव में अखिल भारतीय विद्यार्थी परिषद (एबीवीपी) के उम्मीदवार थे। उनकी मुख्य प्रतिद्वंद्वी एक छात्रा थी, जिसका अच्छा-खासा प्रभाव था।

इससे भी अहम बात यह थी कि उस कॉलेज में छात्राओं की बड़ी तादाद थी। शाह और उनके समर्थकों को अंदेशा था कि अगर चुनाव में सीधा मुकाबला हुआ, तो वे हार जाएंगे। माना जाता है कि तभी युवा शाह ने एक रणनीति गढ़ी।

उनके साथियों ने कुछ छात्राओं के घरों के टेलीफोन नंबर जुटाए। वह लैंडलाइन का दौर था। उनके माता-पिता को फोन कर आगाह किया गया कि मतदान के दिन परिसर में बवाल हो सकता है। इस चेतावनी का मनचाहा हुआ। कुछ माता-पिता ने उस दिन अपनी बेटियों को कॉलेज न भेजने का फैसला किया। नतीजतन, महिला मतदाताओं की संख्या घट गई और करीबी मुकाबले में शाह चुनाव जीत गए।

सरदेसाई इस प्रसंग को किसी नैतिक सीख के तौर पर नहीं, बल्कि उस व्यक्ति की रणनीतिक सोच के उदाहरण के रूप में पेश करते हैं जो आगे चलकर देश के सबसे ताकतवर नेताओं में शुमार हुआ। यहां मकसद उस चुनावी जीत की नैतिकता पर बहस करना नहीं, बल्कि यह सोचना है कि अगर आज ऐसा कोई पैतरा आजमाया जाए तो क्या होगा। मुझे लगता है कि नतीजा बिल्कुल उलट होगा। अगर आज कोई किसी युवती को डराने की कोशिश करे, तो वह पूछेगी:

मुझे कौन डराने की कोशिश कर रहा है और क्यों? और अगर कोई उसे दूर रहने को कहे, तो मुमकिन है वह ठीक इसके विपरीत कदम उठाए!

चुपचाप जुल्म सहने, रोते हुए घर लौटने और रुलाने वाली बात को भूलने की कोशिश करने वाली महिलाओं का दौर अब तेजी से बीत रहा है। आज की भारतीय महिला, विशेष रूप से युवा पीढ़ी, कहीं अधिक आत्मविश्वासी है, अपने अधिकारों के प्रति सजग और किसी भी धमकी को अपनी नियति मानने को तैयार नहीं।

हमारे पास पुरुष सत्ता को चुनौती देने वाली महिलाओं के कई ऐतिहासिक उदाहरण हैं। झांसी की रानी लक्ष्मीबाई ने अपने राज्य

की रक्षा के लिए अंग्रेजों से लोहा लिया। तमिल साहित्यिक परंपरा में कण्णगी ने अपने निंदोष पति के साथ हुए अन्याय के खिलाफ राजा को ललकारा और न्याय मांगा। वे महिलाएं इसलिए असाधारण थीं क्योंकि तब समाज पूरी तरह पितृसत्तात्मक था। आज वही अपवाद एक आम नियम बनता जा रहा है।

यह बदलाव अब सड़कों पर साफ देखा जा सकता है। जब नागरिकता संशोधन कानून (सीएए) बड़ा राजनीतिक मुद्दा बना, देश भर के विरोध-प्रदर्शनों में महिलाएं आगे थीं। जामिया मिलिया इस्लामिया और अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय जैसे परिसरों की छात्राओं ने पुलिस का डटकर सामना किया।

इसके बाद शाहीन बाग का दौर आया। महिलाएं, जिनमें अधिकतर बुजुर्ग और साधारण परिवारों से थीं, दिल्ली की सड़क पर हफ्तों जमी रहीं। आलोचनाएं झेलीं, लांछन सहे और धमकियों का सामना किया, फिर भी नहीं हिलीं। अंततः कोविड 19 के कारण देश थम जाने पर ही उस धरने को स्थगित करना पड़ा।

मगर तब तक एक बुनियादी बदलाव आ चुका था: भारतीय समाज ने महिलाओं को एक राजनीतिक आंदोलन के केन्द्र में खड़े देखा था। इसका सबक साफ था- महिलाएं सिर्फ इसलिए पीछे नहीं हटेंगी कि हुकूमत में बैठे पुरुषों ने उन्हें ऐसा करने का हुक्म दिया है।

किसान आंदोलन ने इसी सच्चाई को और पुख्ता किया। जब तीन कृषि कानूनों के खिलाफ आंदोलन के दौरान पंजाब और अन्य राज्यों के किसानों के दिल्ली की सीमाओं पर रोका गया, तो झुलसाती धूप, बारिश और हाड़ कंपा देने वाली ठंड में महिलाएं उनके साथ कंधे-से-कंधा मिलाकर डटी रहीं। वे किसी पुरुष-प्रधान आंदोलन की सजावटी

बुनियादी बदलाव आ चुका

है। सबसे ख़ास बात उनका

गुस्सा नहीं, बल्कि

डराने-धमकाने से न डरने

का उनका रवैया है

विरोध के सिवा जनता के पास रास्ता ही क्या बचा?

लोकतंत्र का वजूद भारत की जनता की राजनीतिक समझदारी और सतर्कता पर निर्भर



3 अक्टूबर को जंतर-मंतर पर बिना डरे और बिना रुके डटे प्रदर्शनकारी

दीपंकर मट्टाचार्य

देश ने गांधी जयंती पर इससे पहले ऐसा विरोध-प्रदर्शन कभी नहीं देखा। सोशल मीडिया के एक चुटीले मीम के शब्दों में कहे तो 2 अक्टूबर वह दिन होता है जब गांधी के हत्यारों का महिमामंडन करने वालों को भी मजबूरी में उन्हें श्रद्धांजलि देनी पड़ती है। सत्य, अहिंसा और सत्याग्रह के अपने उसूलों से दुनिया को प्रेरित करने वाले महात्मा गांधी सामान्य, निहत्थे लोगों के शांतिपूर्ण प्रतिरोध की ताकत के प्रतीक थे। उनकी 157वीं जयंती पर पूरे भारत में वह विरासत फिर जी उठी, जब युवाओं ने उनके अहिंसक प्रतिरोध के विचार को पूरे उत्साह के साथ अपनाया।

जो लोग मानने लगे थे कि गांधी अप्रासंगिक हो चुके हैं, उन्हें गहरा झटका लगा। कोलकाता में एक नुककड़ पर माकपा की बैठक का वह दृश्य कहीं अधिक लोगों तक पहुंचना चाहिए

था, जहां एक हिंसक दक्षिणपंथी भीड़ के हमले के बावजूद एक महिला कामचलाऊ मंच पर महात्मा गांधी की तस्वीर थामे डटी रही। जब भीड़ कुर्रियां फेंक रही थी, बैनर और पोस्टर फाड़ रही थी और भद्दी गालियां बक रही थी, वह चट्टान की तरह अचल-अडिग खड़ी रही।

सैकड़ों छात्र कार्यकर्ताओं और युवाओं से लेकर बुजुर्गों तक आम नागरिकों ने दिल्ली में छावनी बने जंतर-मंतर के इर्द-गिर्द सुरक्षा बलों की डराने वाली घेराबंदी को धताया। उन्हें जिस बर्बरता से हिरासत में लिया गया ,वह कोई अप्रत्याशित नहीं थी (जंतर-मंतर 1.0 की यादें हमारे जेहन में ताजा हैं)। बुजुर्गों जहां खामोशी से मार्च में भाग ले रहे थे, वहीं जंतर-मंतर के आसपास युवाओं की टोली नारे लगा रही थी, गिटार बजा रही थी, सवाल पूछ रही थी, बैरिकेड्स गिरा रही थी, पुलिस की घेराबंदी से फिसलकर निकल रही थी और कैमरों के सामने चुटकुले सुना रही थी। जब उन्हें बसों में रूंसा गया, तो वे

खिड़कियों से कूदकर वापस प्रदर्शन में शामिल हो गए। दिल्ली में तो एक युवती एक बस की चाबी ही लेकर भाग गई। मुंबई के शिवाजी पार्क में सैकड़ों लोग किसी फरमान से नहीं, बल्कि अपनी मर्जी से राष्ट्रगान गा रहे थे। एक वायरल वीडियो में जहां एक महिला पुलिसकर्मी युवा महिला प्रदर्शनकारियों और उनकी माताओं को ‘बेशर्मा’ कहकर गालियां देती दिखी, वहीं दूसरे वीडियो में प्रदर्शनकारी इम्यूटी के दौरान बेहोश हुई एक महिला पुलिसकर्मी के चारों ओर घेरा नाकर उसे हवा झलते नजर आए।

युवा जहां शांतिपूर्ण विरोध की गांधीवादी विरासत को दोहरा रहे थे, वहीं सरकार ने नागरिक अवज्ञा को कुचलने के लिए बर्बर बल-प्रयोग के औपनिवेशिक तरीकों की यादें ताजा कर दीं।

*

देश भर के नागरिकों की मांग तीन बातों

पर टिकी है: मुख्य चुनाव आयुक्त ज्ञानेश कुमार का तत्काल इस्तीफा, एसआईआर को पूरी तरह रद्द करना और गलत तरीके से हटाए गए प्रत्येक मतदाता के मताधिकार की बहाली। नागरिकों ने 2023 के उस कानून को निरस्त करने की अहमियत समझ ली है जिसने सरकार को अपनी मनपसंद का चुनाव आयोग चुनने की खुली छूट दे दी (जिसमें विपक्ष का कोई प्रतिनिधित्व नहीं है) और चुनाव आयुक्तों को आजीवन कानूनी छूट देकर कानून से ऊपर बैठा दिया। चुनाव आयोग के भीतर मतभेदों और उसके बाद के संकट-प्रबंधन पर ‘द इंडियन एक्सप्रेस’ की विस्फोटक रिपोर्ट (25 सितंबर 2026) ने जन-आक्रोश को और भड़काया। तीन में से दो चुनाव आयुक्तों द्वारा 10 महीनों में दर्ज कराई गईं 14 आपत्तियों के बारे में अखबार ने 6 अक्टूबर को एक और खोजी पड़ताल प्रकाशित की। इस रिपोर्ट के मुताबिक 11 अपीलीय न्यायाधिकरणों के प्रमुखों ने 11 अगस्त को बैठक की और अपील दाखिल करने वाले पोर्टल में कम-से-कम पांच बुनियादी खामियां गिनाईं। कभी केवल एक अंदेशा था, वह अब हकीकत बन चुका है: भारत के चुनावी लोकतंत्र और सार्वभौमिक वयस्क मताधिकार के संवैधानिक अधिकार के साथ एक बहुत बड़ा संस्थागत फर्जीवाड़ा किया गया है।

अब जबकि पूरा देश 13 करोड़ से अधिक मतदाताओं के नाम काटे जाने पर उबल रहा है, चुनाव आयोग ने सभी मुख्य निर्वाचन अधिकारियों (सीईओ) को निर्देश दिया है कि वे एक महीने के भीतर छूटे हुए मतदाताओं से संपर्क साधें। ‘लेफ्ट-आउट’ शब्द सुनियोजित तरीके से नाम बाहर करने की उस चाल के लिए गढ़ा गया पर्दा है, जिसका मकसद भाजपा और उसके सहयोगियों के पक्ष में चुनावी संतुलन को झुकाना है।

जिस समय चुनाव आयोग 1 अक्टूबर को यह संकुलित जाँच कर रहा था, उसी समय भाकपा (माले) के कार्यकर्ता पटना में मताधिकार से वंचित मतदाताओं की जनसुनवाई कर रहे थे। पार्टी कार्यकर्ताओं ने 2025 के बिहार विधानसभा चुनाव में पार्टी द्वारा लड़ी गई बीस सीटों में से 10 क्षेत्रों के 50 चुनिंदा बूथों पर जून से सितंबर के बीच घर-घर जाकर सर्वे किया था। उन्होंने ठीक वही काम किया जो चुनाव आयोग ने अब बीएलओ को करने को कहा है: एसआईआर-पश्चात की मतदाता सूची की तुलना जून 2025 की एसआईआर-पूर्व सूची से करके हटाए गए मतदाताओं की पहचान करना। इस सर्वे से खुलासा हुआ कि गलत तरीके से नाम काटे जाने की दर 17 प्रतिशत थी।

भाजपा और चुनाव आयोग ने फॉर्म 6 और

फॉर्म 7 को न केवल बड़े पैमाने पर मतदाताओं को बाहर करने का हथियार बनाया है, बल्कि मतदाता सूची में चुनिंदा नाम जोड़ने का जरिया भी बना दिया है। 6 अक्टूबर 2026 को ‘रिपोर्टर्स कलेक्टिव’ ने खुलासा किया कि एसआईआर के शुरुआती चरण में उत्तर प्रदेश की मतदाता सूची में 16.18 लाख मतदाताओं को जोड़ा गया: जहां न तो उनके नाम सूचीबद्ध थे और न ही उनका कोई विवरण उपलब्ध था।

अब जब फॉर्म 6 में किए गए बदलाव मनमाने, अनधिकृत और गैर-कानूनी साबित हो चुके हैं, क्योंकि फॉर्म के प्रावधानों में कोई भी संशोधन करना केवल संसद का अनन्य विशेषाधिकार है, चुनाव आयोग ने बिना कोई कारण बताए इन विवादित धाराओं को वापस ले लिया है। सुप्रीम कोर्ट द्वारा इन संशोधनों को मंजूरी दिए जाने का उसका दावा भी भारत के मुख्य न्यायाधीश सूर्यकांत ने खारिज कर दिया है। ये फेरबदल स्पष्ट रूप से ज़ेन-जी मतदाताओं को मतदाता सूची में शामिल होने से रोकने के इरादे से किए गए थे।

फॉर्म 6 पहली बार मतदाता बनने वालों के पंजीकरण का जरिया है। मतदाता सूची से बाहर किए गए मतदाताओं को दोबारा जुड़ने की शर्त के तौर पर उसी फॉर्म का इस्तेमाल करने के लिए मजबूर करना पूरी तरह गैर-कानूनी है। शुरू से ही आपत्तियां दर्ज होने के बावजूद, चुनाव आयोग इसपर अड़ा रहा।

पात्र मतदाताओं को बाहर करने के लिए फॉर्म 7 का बड़े पैमाने पर दुरुपयोग और भी ज्यादा घातक रहा है। पहले से भरे हुए फॉर्म 7 के बंडलों की बरामदगी मुस्लिम मतदाताओं और भाजपा एवं उसके सहयोगियों के खिलाफ वोट देने वाले संभावित तबकों को सुनियोजित ढंग से निशाना बनाए जाने की ओर इशारा करती है। जब किसी मतदाता सूची से नाम हटाने के लिए फॉर्म 7 के तहत शिकायत दर्ज की जाती

है, तो नाम हटाने से पहले उस मतदाता को विधिवत नोटिस दिया जाना चाहिए और उसे जवाब देने का पूरा मौका मिलना चाहिए। इस नियम की लगातार ध्मजियां उड़ाई गईं।

जान-बूझकर निशाना बनाने का सबसे स्तब्धकारी उदाहरण पश्चिम बंगाल में देखने को मिला। अपीलीय न्यायाधिकरण 11 के अध्यक्ष पद से इस्तीफा दे चुके सेवानिवृत्त न्यायमूर्ति इंद्रजीत चटर्जी ने खुलासा किया कि खुद पश्चिम बंगाल के अतिरिक्त मुख्य निर्वाचन अधिकारी ने उनके न्यायाधिकरण के समक्ष फॉर्म 7 के तहत 2.54 लाख अपीलों दायर की थीं, जिसमें उन मतदाताओं को बाहर करने की मांग की गई थी जिन्हें न्यायिक अधिकारियों द्वारा पात्र पाया जा चुका था। ‘द इंडियन एक्सप्रेस’ की पहली रिपोर्ट के अनुसार, चुनाव आयुक्त सुखबीर सिंह संधू ने दर्ज किया था कि न तो उन्हें, न ही उनके साथी चुनाव आयुक्त विवेक जोशी को और न ही पश्चिम बंगाल के सीईओ को कोई भनक थी कि चुनाव आयोग की ओर से 16 लाख से अधिक अपीलों -जिनमें अधिकतर ऑटोमेटेड (मशीनी) थीं- को दायर करने की मंजूरी किसने दी थी।

भारत के संसदीय लोकतंत्र का संस्थागत ढांचा, शक्तियों के पृथक्करण का सिद्धांत और नियंत्रण एवं संतुलन की व्यवस्था, जो आजादी के बाद के भारत में लोकतंत्र के अस्तित्व के आधार रहे हैं, आज सबसे कठिन परीक्षा का सामना कर रहे हैं। सुप्रीम कोर्ट, जो चुनाव आयोग पर अंकुश लगा सकता था और जिसे ऐसा करना चाहिए था, उसने चुनावी व्यवस्था के साथ इतने बड़े खिलवाड़ की वस्तुतः खुली छूट दे दी। अगर इसे टाला न गया होता, तो ‘एक राष्ट्र, एक चुनाव’ विधेयक की जांच कर रही संयुक्त संसदीय समिति और सुप्रीम कोर्ट के बीच 6 अक्टूबर की प्रस्तावित बैठक विधायी-न्यायिक सीमाओं के धुंधले पड़ने का एक और खुला उदाहरण बन जाती।

संस्थागत स्तर पर सड़न पैदा हो जाने के बाद, लोकतंत्र का वजूद अब लगभग पूरी तरह भारत की जनता की राजनीतिक परिपक्वता और जागरूकता पर टिक गया है। ‘इंडिया’ गठबंधन की 30 सितंबर की बैठक और वामपंथी छात्र कार्यकर्ताओं, जेन-जी प्रदर्शनकारियों, प्रगतिशील नागरिकों, स्वतंत्र मीडिया कर्मियों और गैर-राजग विपक्षी दलों का बढ़ता दखल एक निर्णायक लोकतांत्रिक बदलाव की उम्मीद जगाता है। क्या हम इस फासीवादी शिकंजे को तोड़ने में कामयाब होंगे? इसके लिए यहां नहीं, सड़कों पर नजर रखिए। ■

दीपंकर मट्टाचार्य नाकपा (माफ़ी) के महासचिव हैं

वया हम इस फासीवादी

शिकंजे को तोड़ने में

कामयाब होंगे? सड़कों पर

नज़र बनाए रखिए

अपनी कहानी खुद की ज़बानी

“मेरे परिवार को लगातार बुरी तरह प्रताड़ित किया जा रहा”



यह 26 जनवरी 2026 का वाक्या है। 42 साल के जिम मालिक और फ़िन्सेने टेनर दीपक कुमार के पड़ोसी, बुजुर्ग वकील अहमद को बजरंग दल के कुछ कार्यकर्ता परेशान कर रहे थे। 71 वर्षीय वकील अहमद “बाबा स्कूल इस एंड मैथिंग सेंटर” के मालिक हैं। कार्यकर्ता चाहते थे कि अहमद अपनी दुकान के साइनबोर्ड से ‘बाबा’ शब्द हटा दें, जिसे वे हिन्दू शब्द मानते थे। दीपक बीच-बचाव में आए, तो धमकाने वाली भीड़ ने उनका नाम पूछा। सहज एकजुटता में उन्होंने कहा, “मेरा नाम मोहम्मद दीपक है।” इस घटना का एक वीडियो तेजी से वायरल हुआ और दीपक अचानक चर्चा में आ गए। और इसी के बाद शुरू हो गया नाज़्ती सिलसिला: एफआईआर, दुकान खाली करने के नोटिस, जान से मारने की धमकियां और सोशल मीडिया पर गालियां। कारोबार टप हो गया। जुलाई में दीपक जंतर-मंतर पर हो रहे विरोध प्रदर्शनों के

समर्थन में दिल्ली गए। अगस्त में सुप्रीम कोर्ट ने उनके खिलाफ़ दर्ज एफआईआर पर रोक तो लगा दी, लेकिन दीपक के लिए यह राहत लंबी नहीं चली। अक्टूबर की शुरुआत में दीपक ने उज्जैन में एक मस्जिद के आंशिक विध्वंस (जो यूपी के मुख्यमंत्री योगी आदित्यनाथ के आदेश पर हुआ था) को लेकर पोस्ट क्या लिखी, एक स्थानीय व्यवसायी ने उन पर गाली-गलौज, मारपीट और धमकी देने के आरोप जड़ दिए। एक अक्टूबर को दीपक को गिरफ्तार कर लिया गया। 2 अक्टूबर को उन्हें जमानत पर रिहा कर दिया गया। इस तरह, एक हिन्दू कट्टरपंथी भीड़ से अपने मुस्लिम पड़ोसी का बचाव करने से लेकर खुद आरोपी बनने तक का उनका जो महीने का उतार-चढ़ाव मरा साफ़र एक बार फिर राष्ट्रीय चर्चा का विषय बन गया।

मोहम्मद दीपक, जैसा कि एरिेम सहगल को बताया

मैं **उत्तराखंड** के कोटद्वार शहर में रहता हूं, जहां पिछले कुछ सालों में लोगों की सोच बहुत संकीर्ण और जातिवादी होती गई है। पिछले कुछ सालों में सरकार ने मुसलमानों के खिलाफ़ इतना ज़्यादा प्रोपेगैंडा फैलाया है कि हमारे समाज में गहरी दरारें आ गई हैं। मेरा जन्म कोटद्वार में हुआ और 42 सालों से मैं यहीं रह रहा हूं। गढ़वाली नहीं हूं। यहां सब मुझे जानते हैं। मैं एक सफल जिम संचालक था, जिसके 200 से ज़्यादा सदस्य थे और 40,000 रुपये से ज़्यादा का मासिक किराया भी भरता था। लेकिन 26 जनवरी की घटना ने सब कुछ बदल दिया। अपनी गलती छिपाने के लिए हिन्दू रक्षा समिति और बजरंग दल के लोगों ने मुझे बदनाम करना, मेरे खिलाफ़ तरह-तरह की अनर्गल बातें फैलाना शुरू कर दिया।

मुझे और मेरे परिवार को फ़ोन पर बहुत गंदे हमलों का सामना करना पड़ा। बात यहीं तक सीमित नहीं थी। घर से बाहर निकलता तो कुछ दुकानदार (जिन्हें मैं पहले से जानता था) तरह-तरह की अपमानजनक टिप्पणियां करते। इस नफ़रती प्रचार का नतीजा यह हुआ कि मेरे जिम में सदस्य घटने लगे और महज़ 20 रह गए। गुज़ारा मुश्किल हो गया। मेरी पत्नी घर पर बच्चों को ट्यूशन देने लगी और मेरी 70 साल की मां अब चाय की दुकान चलाती हैं। बेटी को स्कूल से लेने जाऊं या मां को लंच बॉक्स देने, तो कुछ दुकानदार भेदे-भेदे कमेंट्स करते हैं: “कटुआ की औलाद” . या “मुहम्मद की औलाद” ।

इन्हीं में से एक संजीव टोक है, जिसे सब बबलू के नाम से ज़्यादा जानते हैं। 1 अक्तूबर को, रोज की तरह मैं अपनी मां के लिए लंच बॉक्स लेकर जा रहा था, कि बबलू मुझे अफ़सोस कहने लगा। मैं रुककर उससे बोला, “भाई, ऐसी बातें मत करो। इससे मेरे बारे में गलत धारणा बनती है।” बबलू ने फ़ौरन बजरंग दल के जिला अध्यक्ष राज गौरव नौटियाल को फोन मिला दिया, जो 60 और लोगों के साथ वहां पहुंच गए। बहस हुई और दोपहर करीब 3 बजे मुझे

पुलिस लॉकअप में डाल दिया गया। संजीव टोक ने अपनी शिकायत में आरोप लगाया कि मैंने उसे अपशब्द कहे, धमकाया और उस पर हमला करने की कोशिश भी की।

वह पूरा जत्था पुलिस स्टेशन गया और अगले चार घंटे तक सब वही डटकर नारे लगाते रहे, मुझ पर चिल्लाते रहे। पुलिस ने उन्हें रोकने की कोशिश तक नहीं की। मेरी परेशान मां मुझसे मिलने आईं, लेकिन उन्हें मिलने नहीं दिया गया। मेरे खिलाफ़ दर्ज एफआईआर में मुझ पर बीएनएस की धारा 351(2) (आपराधिक धमकी) और धारा 352 (शांति भंग करने के इरादे से जान-बूझकर अपमानित करना) के तहत आरोप लगाए गए। बाद में पुलिस ने धारा 196 (अलग-अलग समूहों के बीच दुश्मनी को बढ़ावा देना) और धारा 115 (जान-बूझकर चोट पहुंचाना) भी जोड़ दीं।

मेरी मां ने एक वकील से संपर्क किया और अगले दिन शाम 7 बजे मुझे रिहा कर दिया गया। एसडीएम ने चेतावनी दी, “अगली बार अगर तुमने कुछ गड़बड़ की, तो सीधे पौड़ी जेल भेज देंगे।”

इस घटना के बाद से मेरा फ़ेसबुक अकाउंट एक बार फिर ब्लॉक है। मेरे लिए यह दिक्कत की बात है क्योंकि मेरे 13 लाख (1.3 मिलियन) फ़ॉलोअर्स हैं और इन्हीं की बदौलत आने वाले विज्ञापनों के ज़रिये मैं हर महीने 12,000 रुपये तक कमा पाता हूं। इससे मेरी आर्थिक परेशानियां और बढ़ गई हैं।

पुलिस को इन दक्षिणपंथी समूहों के साथ क्यों खड़ा होना चाहिए? हमारे देश में तमाम लोगों को मदद की ज़रूरत है। ज़रूरतमंदों की मदद के लिए तो इन दक्षिणपंथियों की एक उंगली तक नहीं उठती। बल्कि, ये हिन्दुत्ववादी लड़के खुद को समाज में विभाजनकारी एजेंडा आगे बढ़ाने का ठेकेदार मान बैठे हैं।

वकील अहमद की दुकान पर मौजूद वीडियो और गवाहों से स्पष्ट था कि गणतंत्र दिवस पर हुए हमले से

“मुझे देश भर के लोगों से प्यार और सम्मान मिला है, लेकिन अपने गृह राज्य में नहीं

‘हमारे भविष्य को बाजार मत बनाइए’

महाराष्ट्र में बदहाल एमपीएससी व्यवस्था को सुधारने की मांग पर अड़े प्रतियोगी छात्रों में उबल रहा असंतोष

जयदीप हर्डीकर

गांधी जयंती, 2 अक्तूबर को जब देश भर का ध्यान दिल्ली के जंतर-मंतर और मुंबई के शिवाजी पार्क के प्रदर्शनों पर था, उसी दौरान सरकारी भर्ती परीक्षाओं की तैयारी में जुटे सैकड़ों युवक-युवतियां पुणे में महाराष्ट्र लोक सेवा आयोग (एमपीएससी) के खिलाफ स्वतःस्फूर्त आंदोलन में सड़कों पर उतर आए।

समाजवादी नेता और स्वतंत्रता सेनानी के नाम पर बने पुणे के ऐतिहासिक एस.एम. जोशी पुल पर धरने पर बैठे इन युवाओं के लिए एमपीएससी की लगातार नाकामियों का मतलब अपने जीवन के सबसे बेहतरीन सालों की बर्बादी है। इसका मतलब उस पैसे का नुकसान है जिसे खर्च करने की हैसियत उनके परिवारों की बिल्कुल नहीं थी, और उस भरोसे का टूटना है जिसने पीढ़ियों से भारत में सामाजिक तरक्की की नींव रखी-यानी मेहनत से पढ़ो, ईमानदारी से प्रतियस्पर्धा करो और सफल होकर निकलो।

पिछले पांच सालों में इन अभ्यर्थियों ने प्रश्नपत्रों की गलतियां, लोक के आरोप, साइबर सुरक्षा में सेंध, बार-बार तारीखों का टलना, परीक्षा पैटर्न में फेरबदल, विवादित रिक्रियां, मूल्यांकन में धांधली और आखिरकार एक पुष्ट पेपर लोक को झेला है जिसके चलते पूरी भर्ती प्रक्रिया ही रद्द करनी पड़ी। आयोग की समस्याएं मुख्य रूप से तीन तरह की हैं: वे गड़बड़ियां जो सिद्ध हो चुकी हैं और जिन पर कार्रवाई हुई; विशिष्ट परीक्षाओं में कथित धांधली; और तारीखों का टलना, पदों की संख्या घटना, मूल्यांकन विवाद और डेटा चोरी जैसी प्रशासनिक विफलताएं।

महाराष्ट्र ने 23 विशेष अदालतों में सुनवाई के लिए परीक्षा धांधली के 203 लंबित मामलों की पहचान की है; इनमें सबसे पुराना मामला 2002 का है जिसमें पुलिस सब-इंस्पेक्टर सहित कई पदों की एमपीएससी परीक्षा में कथित अनियमितताएं और भ्रष्टाचार शामिल हैं।

वर्तमान आंदोलन एक किलोमीटर के दायरे में तीन अलग-अलग स्थानों से शुरू हुआ। छात्र तीन मांगों में बंटे हैं- एक समूह एमपीएससी अध्यक्ष विवेक भीमनवार की बख्शस्तगी चाहता है; दूसरा वस्तुनिष्ठ के बजाय वर्णनात्मक प्रश्नपत्र और मूल्यांकन में अधिक पारदर्शिता चाहता है; जबकि तीसरा चर्चा वस्तुनिष्ठ प्रश्नपत्र व्यवस्था को फिर से लागू करने की मांग पर अड़ा है। भीड़ दिन-ब-दिन बढ़ रही है। कांग्रेस सहित तमाम विपक्षी दलों, भाजपा के नेतृत्व वाली सरकार के कुछ तबकों और सीजेपी से छात्रों को समर्थन मिल रहा है। सरकार ने बेहतर विकल्प तलाशने के लिए समिति गठित की है, जिसे दिसंबर 2026 में रिपोर्ट सौंपनी है।

*

पुणे की प्रतियोगी परीक्षा अर्थव्यवस्था मुख्यतः छोटे शहरों और ग्रामीण जिलों के युवाओं के सहारे टिकी है, जो लंबे समय से कृषि संकट और बेरोजगारी की मार झेल रहे हैं। हजारों युवा सूखा प्रभावित मराठवाड़ा, किसान आत्महत्याओं से जूझते विदर्भ, पश्चिमी महाराष्ट्र के बंजर इलाकों और अन्य छोटे कस्बों से आते हैं। पुणे एक बड़ा शिक्षा केन्द्र होने और दिल्ली के मुकाबले अपेक्षाकृत किफायती होने के कारण युवाओं को खींचता है।

कोल्हापुर के राधानगरी निवासी 24 वर्षीय विवेकानंद

मारुति पाटिल एक किसान के बेटे हैं। कॉलेज के दिनों से ही तैयारी शुरू कर दी थी। वह कहते हैं, ‘हम कठिन परिस्थितियों से जूझकर गांवों से आए गरीब परिवारों और किसानों के बच्चे हैं। हम नौकरियों खरीदने के लिए 50 लाख रुपये नहीं दे सकते। हमारे भविष्य को बाजार मत बनाइए।’ धरना स्थल पर विवेकानंद अपने व्यंग्य और हास्य-बोध से भरे भाषणों के चलते आंदोलन का पहचाना चेहरा बन गए हैं। विवेकानंद अपनी बातचीत में प्लेटो और अरस्तू से लेकर संत ज्ञानेश्वर एवं तुकाराम तक का संदर्भ देते हैं, और फिर छात्र जीवन की तकलीफों पर लौट आते हैं। खचाखच भरे धरना स्थल पर उन्होंने कहा, ‘जब विधायकों और सांसदों की खरीद-फरोख्त हुई और पार्टियां तोड़ी गईं, तब हमें कोई फर्क नहीं पड़ा। लेकिन जब इम्तिहान का पर्चा लोक हुआ, तो लगा जैसे सिर पर आसमान ही टूट पड़ा हो।’

पुणे की परीक्षा-अर्थव्यवस्था कमर तोड़ने वाली है। छात्र कमरों के बजाय सिर्फ बिस्तर किराये पर लेते हैं, एक साथ रहते हैं, मामूली मेस और टिफिन सेंटरों में खाते हैं, भौड़भाड़ वाली ‘अभ्यासिकाओं’ (लाइब्रेरी) में घंटों बैठते हैं और हर किताब, कोचिंग क्लास के खर्च का हिसाब जोड़ते हैं।

पुणे के स्टडी सेंटरों पर 2023 की एक रिपोर्ट में कोल्हापुर के एक एमपीएससी अभ्यर्थी का हवाला दिया गया था, जो शिवाजीनगर में डबल-शेयरिंग पीजी के लिए हर महीने 6,000 रुपये दे रहा था। मकान नया बना हो तो तीन लोगों के कमरे का खर्च 10,500 रुपये तक पहुंच जाता है। एक पुराने सर्वेक्षण से पता चला था कि लगभग आधे अभ्यर्थी गांवों से आए थे। तैयारी पर उनका अनुमानित औसत वार्षिक खर्च लगभग 1.19 लाख रुपये था। कोचिंग की फीस कुछ हजार रुपये से लेकर 1 लाख से अधिक थी। पुणे का एक कोचिंग सेंटर टेस्ट सीरीज के साथ एमपीएससी प्रॉलिम्स और मेन्स के लिए लगभग 90,000 रुपये वसूलता है।

पुणे में तैयारी का हर अतिरिक्त साल माता-पिता के लिए और अधिक कर्ज लेकर आता है। यही वजह है कि जब कोई

एमपीएससी के कारनामे

2021 एमपीएससी परीक्षा में अरुणथियों ने गलतियों और अस्पष्ट प्रश्नों को चुनौती दी; पांच प्रश्नों को हटाना पड़ा।

2022 पुणे पुलिस ने राज्यस्तरीय परीक्षाओं में कथित पेपर लीक और धांधली के बड़े रैकेट का भंडाफोड़ किया। नागपुर केंद्र पर एमपीएससी पेपर लीक का कथित मामला भी आया, जिसे आयोग ने नकार दिया।

2022–23 एमपीएससी ने मुख्य परीक्षा को वस्तुनिष्ठ से बदलकर वर्णनात्मक करने की घोषणा की। छात्रों ने विरोध करते हुए दलील दी कि बीच में नियम बदले जा रहे हैं। अंततः इसे 2025 तक टाल दिया गया।



महाराष्ट्र पब्लिक सर्विस कमीशन की परीक्षाओं में कथित गड़बड़ियों को लेकर आंदोलन कर रहे छात्रों को संबोधित करती एनसीपी (शरद पवार) सांसद सुप्रिया सुले

परीक्षा महीनों के लिए टलती है, तो परिवारों पर यह किसी आर्थिक आपात की तरह गिरता है।

भारत की सरकारी नौकरी भर्ती प्रणाली के केन्द्र में एक क्रूर अंतर्विरोध है: भर्ती प्रक्रिया जितनी अधिक अनिश्चित होती जाती है, अभ्यर्थी तैयारी के बाजार में उतने ही लंबे समय तक फंसे रहते हैं। जैसे-जैसे उम्र बढ़ती है, परीक्षा पास करने का उनका विश्वास डगमगाता है और कोचिंग का ढांचा और फलता-फूलता है।

पुणे में यह दबाव साफ महसूस किया जा सकता है। पिछले महीने धाराशिव के 28 वर्षीय एक अभ्यर्थी कमरे में मृत पाए गए। पुलिस को एक सुसाइड नोट मिला जिसमें

2023 संदिग्ध साइबर सेंधमारी ने एमपीएससी के 94,195 हॉल टिकटों की जानकारी उजागर। एक छात्र गिरफ्तार; आयोग ने कहा कि उम्मीदवारों के डेटा चोरी नहीं हुए।

2024 राज्य सेवा परीक्षा की अधिसूचना में केवल 205 पदों की पेशकश। कम रिक्रितियों को लेकर विरोध प्रदर्शन। प्रारंभिक परीक्षा कई बार टली।

अप्रैल 2025 पीएसआई के पद 441 से घटाकर 261 करने पर पुणे में 1,000 से अधिक अभ्यर्थियों का प्रदर्शन। छात्रों ने आरटीआई के हवाले से बताया कि पीएसआई के लगभग 2,959 पद खाली हैं।

सितंबर 2025 बाढ़ के कारण राज्य सेवा प्रारंभिक परीक्षा स्थगित। 385 पदों के लिए 1.75 लाख उम्मीदवारों के शामिल होने की थी उम्मीद।

मार्च 2026 एमपीएससी ने 154 पदों के लिए ड्रग इंस्पेक्टर परीक्षा आयोजित की; लगभग 44,500 उम्मीदवार शामिल हुए।

जुलाई 2026 आरोप लगा कि ड्रग इंस्पेक्टर का प्रश्नपत्र लीक था। मामला पुलिस को सौंपा गया।

अगस्त 2026 पेपर लीक के सबूत मिले, ड्रग इंस्पेक्टर भर्ती रद्द। जबकि 488 उम्मीदवार साक्षात्कार तक दे चुके थे।

सितंबर 2026 हजारों अरुणथियों ने पारदर्शिता, स्वतंत्र जांच, जवाबदेही और परीक्षा सुधारों की मांग को लेकर पुणे में जुटना शुरू किया।

2 अक्टूबर 2026 मौजूदा आंदोलन भड़का, जिसमें छात्रों ने एमपीएससी अध्यक्ष के इस्तीफे, रिक्त पदों पर भर्ती और पुख्ता सुरक्षा एवं पारदर्शिता की मांग की।

मेरा कोई लेना-देना नहीं था। मैं तो बस एक ऐसे बुजुर्ग की मदद में आगे आया था, जो बजरंग दल के कार्यकर्ताओं को अपनी दुकान बंद करने की धमकी देते देख डर से कांप रहे थे- लेकिन फिर भी मेरे ही खिलाफ़ एफआईआर दर्ज कर ली गई। वकील अहमद को दो बार दिला का दौरा पहले ही पड़ चुका था और वे तीसरे और जानलेवा दौरे की आशंका से डरे हुए थे।

मैंने एफआईआर रद्द करवाने और स्थानीय पुलिस अधिकारियों एवं दक्षिणपंथी भीड़ के खिलाफ़ कार्रवाई के लिए नैनीताल हाईकोर्ट से मदद मांगी, तो मार्च में जस्टिस राकेश थपलियाल ने मेरी याचिका खारिज कर दी। उनके अनुसार, मैं चल रही जांच को प्रभावित करने के लिए बेवजह ‘दबाव बनाने के हथकंडे’ अपना रहा था। मुझे इस घटना के बारे में सोशल मीडिया पर वीडियो पोस्ट करने या बयान देने से भी रोक दिया गया। उन्हें लग रहा था कि मैं इस मामले को सनसनीखेज बनाने की कोशिश कर रहा था।

मैं जोर देकर बताना चाहता हूं कि मुझे देश भर के लोगों से खूब प्यार और सम्मान मिला, लेकिन अपने ही राज्य में रहने वाले लोगों से नहीं। दिल्ली के कई वकीलों ने मेरी हालत जानकर मेरी आर्थिक मदद भी की है, जिसके लिए मैं उनका आभारी हूं। मैंने सुप्रीम कोर्ट से राहत की गुहार लगाई थी। मेरे मामले की पैरवी जाने-माने वकील अभिषेक मनु सिंघवी ने की। 31 अगस्त को मेरे खिलाफ़ चल रही आपराधिक कार्यवाही पर रोक लग गई और मुझे अंतरिम राहत दी गई। कोर्ट ने मुझ पर लगी सोशल मीडिया पारबंदियां हटाने का भी आदेश दिया।

मुस्लिम समुदाय मेरे साथ है, लेकिन वे संख्या में कम हैं और खुलकर सामने आने से डरते हैं। राहुल गांधी ने खुद मुझसे संपर्क किया और मैं दिल्ली, उनसे मिलने भी गया। उन्होंने कोटद्वार आने का वादा किया है; उम्मीद है कि वह जल्द ही आएंगे। अफ़सोस है कि राज्य में कांग्रेस के कार्यकर्ता मेरे पक्ष में खुलकर नहीं बोलते। शायद उन्हें हिन्दू वोट बैंक खोने का डर है। संजय सिंह जैसे कुछ राजनेता मेरे समर्थन में सामने आए हैं।

नफ़रती हमलों का सामना मेरे परिवार वालों को भी करना पड़ा। एक समय तो वे इतना डर गए थे कि उन्हें लगा कि शायद मुझे इस मुश्किल हालात से निकलने के लिए माफ़ी मांग लेनी चाहिए। लेकिन मैंने मना कर दिया। मेरे सामने अगर कभी कोई और ऐसी स्थिति में दिखा, तो मैं उसकी मदद में जरा भी नहीं हिचकिचाऊंगा। मैं हिन्दू हूं, लेकिन मेरे लिए इंसानियत ज़्यादा ज़रूरी है। मुझे गर्व है कि मैं वकील अहमद की मदद कर पाया। देश भर के लोगों से मिले प्यार और सम्मान पर भी मुझे गर्व महसूस होता है। मुझे नहीं लगता कि मैंने कुछ गलत किया। मुझे लगता है कि और लोगों को भी अपने साथी नागरिकों के लिए आगे आना चाहिए। ■

सेवानिवृत्ति से खाली होने वाले पदों को भी इसमें शामिल किया जाएगा।

इससे पहले, छात्र प्रतिनिधियों के साथ बैठक के बाद सरकार ने छह उपायों का भरोसा दिलाया था, जिनमें ऑफ़लाइन परीक्षाएं, जल्दतर पड़ने पर अनुच्छेद 317 के तहत अधिकारियों पर कार्रवाई, दस्तावेजों को बार-बार जमा करने से बचाने के लिए सिंगल-कार्ड प्रणाली और तीन साल की रिक्रिनयों को एक साथ जोड़ना शामिल था। इन आश्वासनों के बाद छात्रों ने 2 अक्टूबर का प्रदर्शन अस्थायी रूप से रोक दिया था। लेकिन अमल का भरोसा न होने के कारण वे आंदोलन पर लौट आए।

यह संकट केवल महाराष्ट्र में नहीं। ज़्यादा पुरानी बात नहीं है जब मध्य प्रदेश का ‘व्यापमं घोशाल’ बड़े पैमाने वाला भ्रष्टाचार साबित हुआ था। कर्नाटक में अभ्यर्थी कर्नाटक लोक सेवा आयोग के कार्याकल्प की मांग कर रहे हैं। झारखंड में अभ्यर्थियों ने झारखंड लोक सेवा आयोग और झारखंड कर्मचारी चयन आयोग द्वारा आयोजित परीक्षाओं में कथित गड़बड़ियों के खिलाफ विरोध जताया। इसी साल ‘नीट’ से जुड़े विवादों ने देश की सबसे बड़ी प्रतियोगी परीक्षा प्रणाली की साख को राष्ट्रीय राजनीति के केन्द्र में ला खड़ा किया।

*

भारत के निम्न और मध्यम वर्ग के लिए सरकारी नौकरी सिर्फ सामान्य नौकरी भर नहीं, यह सामाजिक प्रतिष्ठा और सुरक्षा देती है। ग्रामीण महाराष्ट्र के परिवारों के लिए इसका मतलब परिवार की पहली सुरक्षित पगार होती है, जो मौसमी उतार-चढ़ावों और संकटों से बेपरवाह एक स्थायी आमदनी का भरोसा देती है। यही कारण है कि सरकारी नौकरी के लिए असाधारण होड़ देखने को मिलती है। इसका अंदाज़ इन आंकड़ों से लगाया जा सकता है:

- ग्रुप सी संयुक्त प्रारंभिक परीक्षा, 2026: 5,700 पदों के लिए 10.86 लाख आवेदन।
- ड्रग इंस्पेक्टर भर्ती, 2026: 154 पदों के लिए 44,500 उम्मीदवार।
- राज्य सेवा 2025: 385 पदों के लिए 1.75 लाख अभ्यर्थी।

प्रतियोगी परीक्षाएं एक तरह की लॉटरी बन चुकी हैं और विडंबना यह है कि अभ्यर्थियों से उम्मीद की जाती है कि वे इसे निष्पक्ष मानें। आर्थिक रूप से पिछड़े इलाकों के छात्रों को साधन-संपन्न साथियों से मुकाबला करना पड़ता है। पेपर लीक, परीक्षाओं के टलने और भर्तियों में देरी के चलते निष्पक्षता की बुनियाद ही दरकने लगती है।

आंदोलन की आंच जेल होते ही राजनीतिक दल और नागरिक संगठन इसमें कूद पड़े हैं। राहुल गांधी ने एमपीएससी नेतृत्व के खिलाफ़ कार्रवाई और हजारों खाली सरकारी पदों को तुरंत भरने की मांग की है। राकनाएं (एसपी) विधायक रोहित पवार पहले दिन से धरना स्थल पर डटे रहे। शरद पवार ने मुख्यमंत्री देवेंद्र फडणवीस से बात की है। राज ठाकरे ने भी दौरा किया। अलग-अलग दलों के नेता प्रदर्शन के विभिन्न ठिकानों पर पहुंच चुके हैं।

दूसरी तरफ़, पुलिस ने तीन स्थानों पर 68 प्रदर्शनकारियों को नोटिस थमाए हैं। छात्रों ने चेताया है कि अगर मांगें नहीं मानी गईं तो वे आंदोलन तेज करते हुए सड़कें जाम करेंगे। ■

जब सरकार के पैसे ही हो गए छू-मंतर

तीन आरोपपत्र, 16 गिरफ्तार और 37 नामजद । लेकिन 634 करोड़ की रकम हड़पने में किसी मंत्री या नेता का नाम नहीं

हरजिंदर

हरियाणा बैंक घोटाले में केन्द्रीय जांच ब्यूरो (सीबीआई) ने काफी तेजी दिखाई है। तीन आरोपपत्र दखिल हो चुके हैं, तीन आईएएस अधिकारियों समेत 16 लोग गिरफ्तार किए गए हैं और एजेंसी ने तीन और आईएएस अधिकारियों सहित 37 आरोपियों को नामजद किया है। हैरानी की बात यह है कि 634 करोड़ रुपये की सरकारी रकम हड़पने में किसी मंत्री या नेता का नाम नहीं आया है। यह पूरी रकम दो निजी बैंकों के अधिकारियों की मदद से कई बैंक खातों और फर्जी (शेल) कंपनियों के जरिये निकाली गई, और वह भी दो साल से कम समय में।

यह घोटाला किसी ऑडिट, नियामक या व्हिसलब्लोअर की वजह से उजागर नहीं हुआ। फरवरी 2026 में हरियाणा सरकार के एक विभाग ने आईडीएफसी फर्स्ट बैंक में अपना खाता बंद करवाया रकम कहीं और ट्रान्सफर करनी चाही। मिलान के दौरान अधिकारियों को पता चला कि खाते में असली रकम उससे कहीं कम है, जितनी होनी चाहिए थी। इसके बाद दूसरे सरकारी खातों में भी ऐसी ही गड़बड़ियां मिलीं। आईडीएफसी फर्स्ट बैंक ने 22 फरवरी 2026 को नियामकों को इसकी जानकारी दी। जांचकर्ताओं के मुताबिक, जो रकम सरकारी खातों में या सार्वधि जमा (एफडी) में रहनी थी, उसे कथित तौर पर अनधिकृत लेन-देन के जरिये इधर-उधर किया गया। पहले हरियाणा भ्रष्टाचार निरोधक ब्यूरो ने एफआईआर दर्ज की और फिर राज्य सरकार ने बाद में सीबीआई जांच की सिफारिश कर दी।

एजेंसी ने आईएएस अधिकारी पंकज अग्रवाल, राम कुमार सिंह और प्रदीप कुमार सहित कई वरिष्ठ अधिकारियों को गिरफ्तार किया है। कार्यप्रणाली हैरान करने की हद तक साधारण थी। दोनों निजी बैंकों में सरकारी खाते खोले गए, ज्यादातर आईडीएफसी फर्स्ट बैंक में और कुछ रकम एयू स्मॉल फाइनेंस बैंक में, और यह सब जरूरी मंजूरियों के बिना हुआ। नियमों और पाबंदियों के बावजूद पैसा ट्रान्सफर होता रहा। कागजों पर एफडी बनी, रकम कहीं और भेज दी गई। फर्जी डेबिट एंट्री हुई और उन्हें मंजूरी भी मिली। फर्जी कंपनियों को पैसा पहुंचाया गया। कुछ अधिकारियों ने वरिष्ठों के कथित 'निर्देश पर' लेन-देन को मंजूरी दे दी।

हरियाणा पावर जनरेशन कॉर्पोरेशन से जुड़े एक मामले में अधिकारियों को कथित तौर पर इंडसइंड बैंक की मौजूदा एफडी से 50 करोड़ रुपये आईडीएफसी फर्स्ट बैंक में ट्रान्सफर करने का निर्देश दिया गया। बैंक का 14 फीसदी का असाधारण ब्याज देने पर बाद में जाली पाया गया। फिर भी लेन-देन आगे बढ़ गया।

आरोपपत्रों पर भरोसा करें तो अधिकारी मामूली फायदों के बदले बैंकों को उपकृत करने को तैयार थे। एक आईएएस अधिकारी को सावन ज्वेलर्स से खरीदे गए दो सोने के सिक्के 'तोहफे' में दिए गए। एक और आईएएस अधिकारी जीरकपुर के जेड मैनर होटल में चार डांस पार्टियों में शामिल हुए। इनमें दिल्ली और दूसरी जगहों से सात-आठ महिला नर्तकियां और कलाकार बुलाई गईं। अधिकारियों ने उन पर 15-20 लाख रुपये के नोट लुटाए, जिन्हें बैंक मैनेजर ने



आईडीएफसी फर्स्ट बैंक घोटाला संस्थागत निगरानी की विफलता को उजागर करता है; (बाएं) हरियाणा के मुख्यमंत्री नायब सिंह सैनी

उपलब्ध कराया। बैंक खाते खुलवाने में मदद करने वाले एक अपेक्षाकृत जूनियर अधिकारी, एक सुपरिंटेंडेंट, को सीधे एक करोड़ रुपये दिए गए और पत्नी एवं परिवार के साथ उसकी मुंबई, पुणे, बैंकॉक और दुबई की यात्राओं का खर्च बैंकर ने उठाया। एक अन्य आईएएस अधिकारी पर आरोप है कि उन्होंने 2025 में तीन बार चंडीगढ़ के एक होटल में बैंक की मेहमाननवाजी कबूल की, जहां खाने-पीने पर कई लाख रुपये खर्च हुए।

बड़े वित्तीय अपराध अक्सर इसी तरह होते हैं, किसी एक नाटकीय धोखे से नहीं, बल्कि छोटी-छोटी मिलीभगत की एक कड़ी से। कोई प्रस्ताव रखता है। कोई फाइल पर निशान लगाता है। कोई दस्तखत करता है। कोई पैसा ट्रान्सफर करता है। बैंक में कोई उसे प्रोसेस करता है। और कोई दूसरा सवाल न पूछने का फैसला कर लेता है। जब तक कोई सवाल पूछता है, पैसा जा चुका होता है।

सीबीआई के मुताबिक, हरियाणा राज्य प्रदूषण नियंत्रण बोर्ड का खाता आईडीएफसी फर्स्ट बैंक में फरवरी 2025 में वित्त विभाग की जरूरी मंजूरी के बिना खोला गया। कुछ

ही दिनों में 50 करोड़ रुपये के निवेश को मंजूरी मिल गई। सीबीआई का आरोप है कि यह रकम असली एफडी में जाने के बजाय कैपको फिन्टेक सर्विसेज नाम की कंपनी को भेज दी गई। इसके बाद 17.90 करोड़ रुपये और मंजूर किए गए, जिन्हें ऐसी ही दूसरी फर्जी कंपनियों के जरिये निकाल लिया गया। बोर्ड को 49 फर्जी डेबिट लेन-देन और छह क्रेडिट एंट्री के जरिये आखिरकार 169.69 करोड़ रुपये का नुकसान हुआ।

सीबीआई का कहना है कि मार्च 2025 से जनवरी 2026 के बीच छह बार में बोर्ड की जमा रकम बैंक में बढ़कर करीब 209.42 करोड़ रुपये हो गई, जो नए पैनल में शामिल बैंक के लिए तय 50 करोड़ रुपये की सीमा से कहीं ज्यादा थी। एजेंसी का आरोप है कि एक मामले में किसी दूसरे बैंक की ज्यादा ब्याज वाली बोली को नजरअंदाज कर दिया गया, जबकि आईडीएफसी फर्स्ट का कोटेशन देर से आया था और उस पर न बैंक की मुहर थी, न हस्ताक्षरकर्ता का नाम।

आरोपपत्र में आईएएस अधिकारी पंकज अग्रवाल के लिए कथित तौर पर आयोजित पार्टियों का भी जिक्र है, जिनमें नर्तकियां, शराब, खानपान और बड़ी मात्रा में नकदी थी।

पंकज अग्रवाल विवादों में रहे हैं। मार्च में राज्यसभा चुनाव के दौरान मुख्य निर्वाचन अधिकारी और रिटर्निंग ऑफिसर रहते हुए उन पर चुनाव संचालन में भाजपा के एजेंट

जनता की पूंजी के गलत इस्तेमाल से भरोसा टूटता है। वह भरोसा महज एक बैंक ट्रान्सफर से फिर क़ायम नहीं हो सकता

क्या अपेक्षित समझदारी दिखा सकेगी सपा?

पता नहीं वयों, सपा अपने सहयोगी को ही असहज कर देने वाली हरकतें करने लगी है

कृष्ण प्रताप सिंह

केन्द्रीय चुनाव आयोग ने अपनी अलोकतांत्रिक, अवैध और आपराधिक कार्रस्तानियों के खिलाफ भड़के जनरोष से डर कर डैमैन कंट्रोल के तौर पर ही सही, जिस तरह अपने कदम पीछे खींचने शुरू किए हैं, उससे कम-से-कम एक बात बिल्कुल साफ हो गई है। यह कि उत्तर प्रदेश, उत्तराखंड, पंजाब, गोवा और मणिपुर के आगामी विधानसभा चुनावों में वह भारतीय जनता पार्टी के लिए जनादेश की वैसी चोरी नहीं कर (या करा) पाएगा, जिसकी श्रृंखला में अब तक की आखिरी बड़ी कड़ी उसने गत अप्रैल में पश्चिम बंगाल के विधानसभा चुनाव में जोड़ी थी।

उसके नतीजों को लेकर बल्लियों उछल रहे कई भाजपा नेता अभी हाल तक खुल्लमखुल्ला यह कहते नहीं लजाते थे कि अब जब अंधाधर तक उनके खिलाड़ी बन गए हैं, उनके लिए किसी भी राज्य के चुनावी मैदान में अपने प्रतिद्वंद्वी को चित करना बाएं हाथ का खेल होगा। लेकिन आज की तारीख में यह मानने के कई कारण हैं कि अंधाधरों पर अंकुश लगेगा और उनको ऐसी चोरी कराने से पहले सौ बार सोचना पड़ेगा।

ऐसा हुआ तो कोई कारण नहीं कि भाजपा की ‘दिग्विजय’ का वह सिलसिला भी ठप न पड़ जाए, जिसने उसे इस हद तक अहंकारी बना दिया है कि वह न जनता की समस्याओं की फ़िक्र करती है, न ही उसके रोष की। लेकिन इसकी एक शर्त भी है : यह कि विपक्ष पर्याप्त राजनीतिक समझदारी का प्रदर्शन करे और भाजपाईं भेंड़चलों में फंसने से इन्कार कर दे।

देश के सबसे ज्यादा जनसंख्या वाले उत्तर प्रदेश की बात करें तो इस समझदारी का दारोमदार विपक्ष की सबसे बड़ी समाजवादी पार्टी और उसके सुप्रीमो अखिलेश यादव पर है। लेकिन कोई पूछे कि क्या वह इस समझदारी के विकास की दिशा में

लगातार चार चुनावी शिकस्तों के बाद 2024 के लोकसभा चुनाव में सपा का जोर तब चला जब ‘इंडिया’ के बैनर पर वह और कांग्रेस दोनों सच्चे मन से एक दूसरे के साथ हुए

साबित हो सकता है।

वह बार-बार दोहरा रहे थे कि सपा इंडिया गठबंधन में रहकर कांग्रेस के साथ ही विधानसभा चुनाव के मैदान में उतरेगी। ज्ञातव्य है कि लगातार चार (दो विधानसभा व दो लोकसभा) चुनाव हारने के बाद सपा गत लोकसभा चुनाव में कांग्रेस के साथ इंडिया गठबंधन में शामिल होकर ही जीत का स्वाद चख पाई थी और इस बात को ठीक से समझती भी थी।

लेकिन इधर जानें ऐसा क्या हुआ कि सपा गठबंधन के शिविर में ही उसे असहज करने वाली हरकतें करने लगी है। पहले तो उसने गत 24 सितंबर को पीडीए रथयात्रा की मार्फत अपने शक्ति प्रदर्शन के लिए विपक्ष के नेता राहुल गांधी के निर्वाचन क्षेत्र रायबरेली को चुन लिया।

तीस सितंबर को मुख्य चुनाव आयुक्त के इस्तीफे की मांग पर जोर देने के लिए आंदोलन की रणनीति बनाने हेतु देश की राजधानी दिल्ली में बुलाई गई ‘इंडिया’ गठबंधन की बैठक से लगभग किनारा कर लिया। अलबत्ता, औपचारिकता के तौर पर अपने दूसरी पंक्ति के दो नेताओं महिबुल्लाह नदवी और हरेंद्र मलिक को भेजा।

ध्यान में रखना होगा कि 1992 में अस्तित्व में आई यह पार्टी अब तक अकेले दम पर भाजपा को कभी पराजित नहीं कर पाई। यह और बात है कि उसने अपने संस्थापक मुलायम सिंह यादव के नेतृत्व में 1993 में बसपा से गठबंधन कर पहला विधानसभा चुनाव लड़ा तो बाबरी मस्जिद के ध्वंस और रामलहर के हिंडोले में झूल रही भाजपा को करारी शिकस्त देकर ‘मिले मुलायम कांशीराम, हवा में उड़ गए जय श्रीराम’ का नारा लगाव दिया था।

लेकिन बसपा से गठबंधन टूटने के बाद, एकमात्र 2012 के विधानसभा चुनाव को छोड़कर वह कभी अकेले दम पर बहुमत प्राप्त नहीं कर पाई। 2012 में भी उसने भाजपा को नहीं बसपा



अनायास ही नहीं विवादों में है राहुल गांधी के निर्वाचन क्षेत्र रायबरेली में पीडीए की रथयात्रा

की मायावती सरकार को बेदखल करके बहुमत पाया था। सपा ने वह चुनाव भी मुलायम सिंह यादव के ही नेतृत्व में लड़ा था और 401 सीटों पर प्रत्याशी खड़े करके 224 पर जीत हासिल की थी, जो बहुमत से इक्कीस ज्यादा थीं। उसे 29.13 फीसदी वोट मिले थे और इससे आह्लादित मुलायम ने अपना ताज अपने बेटे अखिलेश के सिर पर सजा दिया था।

गौरतलब है कि 224 सीटें जीतने के बावजूद सपा को उस चुनाव में कुल 29.13 प्रतिशत वोट ही मिले थे। इतने कम वोटों के बावजूद उसका बहुमत का आंकड़ा पार कर लेना आज की तारीख में किसी को भी आश्चर्यजनक लग सकता है, लेकिन यह इसलिए संभव हुआ था कि वह प्रदेश में सपा, बसपा, भाजपा और कांग्रेस के बीच चौकोने चुनावी मुकाबलों का दौर था, जिनमें कई बार तीस प्रतिशत से भी कम वोट पाने वाली पार्टी भी सरकार बनाने भर को बहुमत प्राप्त कर लेती थी।

बाद में मतदाताओं के धुवीकरण के बीच भाजपा और सपा में सीधे मुकाबले की स्थिति आई तो 2022 में अपने इतिहास का सर्वश्रेष्ठ प्रदर्शन

करके 32.06% वोट पाने के बावजूद सपा को 111 सीटों पर ही जीत हासिल हो पाई। तब सपा के भीतर भी कहा जाने लगा कि मुलायम के समय का उसका एम-वाई (मुस्लिम-यादव) समीकरण सीधे चुनावी मुकाबले जीतने के लिए अपर्याप्त है। इसलिए अखिलेश ने उससे आगे बढ़कर पीडीए का नारा दिया, जिसकी अब तक कई व्याख्याएं प्रचलित हो चुकी हैं।

2012 में मुलायम का अखिलेश को मुख्यमंत्री बनवाना सपा को एकदम से रास नहीं आया। चाचा-भतीजे (शिवपाल-अखिलेश) के बहुप्रचारित टकराव के बाद वह 2017 के विधानसभा चुनाव में उतरी तो ऐंटीइन्कम्बैसो के चलते उसको केवल 21.82 प्रतिशत वोट और 47 सीटें ही नसीब हुईं। इससे पहले 2014 के लोकसभा चुनाव में भी उसकी करारी हार हुई थी और 2019 के लोकसभा चुनाव में बसपा से गठबंधन की पुनरावृत्ति के बावजूद उसकी यह नियति नहीं बदली- 2022 के विधानसभा चुनाव में भी नहीं। अपनी इस नियति को वह 2024 के लोकसभा चुनाव में कांग्रेस के नेतृत्व वाले इंडिया गठबंधन की घटक बनकर ही बदल पाई।

की तरह काम करने का आरोप लगा था। भूपिंदर सिंह हुड्डा समेत कांग्रेस के वरिष्ठ नेताओं ने उनकी भूमिका पर सवाल उठाए और चुनाव प्रक्रिया के संचालन को लेकर राज्यपाल को ज्ञापन सौंपा।

एसबीआई के पूर्व चेयरमैन रजनीश कुमार ने बड़ी रकम के चेको के लिए शुरू की गई 'पॉजिटिव पे' व्यवस्था की ओर इशारा किया है। ऐसे नियंत्रण तभी काम आते हैं, जब कोई उनका सचमुच इस्तेमाल करे। जो नियंत्रण सिर्फ कागज पर है, वह नियंत्रण के न होने से भी ज्यादा खतरनाक चीज पैदा करता है- सुरक्षा का भ्रम।

इसलिए यह घोटाला सिर्फ बैंकिंग की नाकामी नहीं, बल्कि संस्थागत सतर्कता की नाकामी को उजागर करता है।

राजनीतिक प्रतिक्रिया भी बहुत कुछ कहती है। 27 अगस्त को जब कांग्रेस विधायकों ने हरियाणा विधानसभा के बाहर बैंक घोटाले के खिलाफ प्रदर्शन किया, तो पुलिस उनसे काफी सख्ती से पेश आई। पूर्व मुख्यमंत्री और नेता प्रतिपक्ष भूपिंदर सिंह हुड्डा के साथ धक्का-मुक्की भी हुई। कांग्रेस ने पूरे मामले पर श्वेत पत्र की मांग की।

सरकार पहले ही कह चुकी है कि ब्याज समेत 556 करोड़ रुपये विभागों को लौटाए जा चुके हैं। निजी बैंकों ने अपने मैनेजर्स को बर्खास्त कर दिया और नुकसान कम करने के लिए सरकारी विभागों की जमा रकम लौटाने का रास्ता चुना। हालांकि, बैंक का रकम लौटाना और रकम को कथित तौर पर इधर-उधर करने वालों से वसूलो करना एक बात नहीं है।

सार्वजनिक धन सिर्फ खाते-बही की एक प्रविष्टि नहीं है। वह नागरिकों का है। उसके दुरुपयोग से जो चीज टूटती है, उसे बैंक ट्रान्सफर से बहाल नहीं किया जा सकता। यह भरोसा टूटा है कि सरकारी संस्थाएं उसकी हिफाजत करने में सक्षम हैं।

सीबीआई के आरोपपत्र में मंत्रियों और राजनेताओं का नाम न होना यह सवाल खड़ा करता है कि सरगना कौन था और सरकार तथा बैंकिंग तंत्र में कितने लोगों ने आंखें फेर लीं? सरकारी वित्त पर श्वेत पत्र, उसकी बैंक जमा राशियों और ब्याज भुगतानों की पूरी सूची सार्वजनिक जांच या विधायिका की जांच के लिए खुली होनी चाहिए। यह मांग वाजिब लगती है, लेकिन सरकार और मीडिया, दोनों घोटाले की तह तक पहुंचे बिना आगे बढ़ जाने को तैयार दिखते हैं।

राज्य को अपनी बैंक जमा राशियों की पूरी सूची प्रकाशित करनी चाहिए। किस विभाग का पैसा किस बैंक में है, किसकी मंजूरी से, किस ब्याज दर पर और किन लागू नियमों के तहत। जरूरी है कि हर अपवाद की व्याख्या हो। हर प्रक्रियागत उल्लंघन की पड़ताल हो।

बैंकिंग का पुराना नियम है- भरोसा करो, पर जांच में कसर न रहे। जनता के धन के मामले में इससे ज्यादा सख्ती होनी चाहिए- जब कोई आपका पैसा संभालने को उतावला हो, तब सबसे ज्यादा जांच करो।

सवाल यह होना चाहिए- बदले में उन्हें क्या चाहिए? हरियाणा का वित्तीय तंत्र यही सवाल पूछना भूल गया। इस चूक की कीमत करोड़ों रुपये में गिनी जा रही है। असली कीमत तो टूटे हुए भरोसे से चुकाई गई है। ■

मक्का समझौता ‘लागू’ करने का मतलब

सऊदी अरब के पास यह प्रचार करने के ठोस कारण हैं कि वह अकेला नहीं है

अशोक खैन

5 अक्तूबर को सऊदी अरब के मक्का रक्षा समझौता लागू करने का फैसला यह दिखाता है कि उसकी सुरक्षा किस नाजुक दौर में पहुंच चुकी है। हतियों के रूप में, उसके सामने ऐसा दुश्मन है जो न सिर्फ उसके शहरों के लिए खतरा पैदा कर सकता है, उसके एनर्जी इंफ्रास्ट्रक्चर को बाधित कर सकता है, बल्कि रेड सी (लाल सागर) तक उसकी पहुंच को भी चुनौती दे सकता है। यह सब तब हुआ, जब अमेरिका के अत्याधुनिक हथियारों पर भारी खर्च किया गया और शक्तिशाली पश्चिमी साझेदार बनाए गए। इस जवाबी कार्रवाई में तुर्की और पाकिस्तान को शामिल करने से उसकी सुरक्षा भावना तो मजबूत हो सकती है, लेकिन युद्ध का दायरा भी बढ़ सकता है, जो तीनों में से किसी भी सरकार के क्रावू में नहीं रहेगा।

रियाद में 5 अक्तूबर को हुई आपात बैठक में तीनों देशों ने अपनी सामूहिक रक्षा जिम्मेदारियां पूरा करने और तय की गई सेना और क्षमताओं को तेजी से सऊदी अरब भेजने का वादा किया। इस साल 7 अगस्त को हुए समझौते के तहत, किसी एक सदस्य पर हुए सशस्त्र हमले को सभी पर हमला माना जाता है और इसे लागू करने से उस वादे को राजनीतिक मजबूती मिलती है। रियाद चाहता है कि हूती और उनके ईरानी समर्थक समझ लें कि लगातार हमले उन्हें एक बड़े गठबंधन के साथ टकराव की स्थिति में ला सकते हैं।

हालाँकि, ‘एक्टवेशन’ का मतलब यह नहीं है कि तुर्की और पाकिस्तान के सैनिक हतियों के खिलाफ लड़ाई में शामिल हो गए हैं। पाकिस्तान के रक्षा मंत्री ने उनकी मौजूदा भूमिका को सहयोगी बताया है। किसी भी तैनाती की घोषणा राष्ट्रीय कानूनों के तहत होती है, और तुर्की की संसद ने अभी तक समझौते को मंजूरी नहीं दी है। ये शर्तें सीमा तय करती हैं कि घोषणा से तत्काल क्या हासिल होता है। इस समझौते का राजनीतिक महत्व जरूर बढ़ गया है, लेकिन इसके काम करने के तरीके अब भी स्पष्ट नहीं हैं।

यह फ्रंके इसलिए भी अहम है क्योंकि सैन्य मदद के अलग-अलग रूप हो सकते हैं। खुफिया जानकारी साझा करने, ट्रेनिंग और एयर डिफेंस से यमन में सहयोगी देशों की सेना भेजे बिना सऊदी इलाके की सुरक्षा में मदद मिल सकती है। फिर भी, रक्षात्मक सहायता आक्रामक अभियानों में भी मददगार हो सकती है, क्योंकि इससे सऊदी सेनाएं दूसरे कामों के लिए खाली हो जाती हैं। खतरा इस बात में है कि मिशन धीरे-धीरे

बड़ा हो सकता है।

सऊदी अरब के पास दावा करने के ठोस कारण हैं कि वह अकेला नहीं है। हूती आतंकवादियों के बार-बार किए गए मिसाइल और ड्रोन हमलों ने उसकी क्षेत्रीय रक्षा की सीमाएं उजागर कर दी हैं। सफल हमलों में भी सीमित गोला-बारूद की खपत होती है और इतने विशाल देश में लगातार तत्परता की दरकार होती है। अमेरिका से इंटरसेप्टर मिसाइलों की घटती आपूर्ति की खबरें इस समस्या को और उजागर करती हैं। हूती आतंकवादियों को बाधा उत्पन्न करने के लिए कभी-कभार ही सफलता की जरूरत होती है, जबकि सऊदी अरब को एक साथ हवाई अड्डों, शहरों, सैन्य प्रतिष्ठानों, तेल सुविधाओं और समुद्री मार्गों की रक्षा करनी पड़ती है। इसके बेहतर सैन्य संसाधन भी यह असंतुलन दूर नहीं कर पाए हैं।

हूती विद्रोही रियाद के एयरपोर्ट और तेल से जुड़े इंफ्रास्ट्रक्चर पर लगातार हमले कर रहे हैं। एयरपोर्ट और एनर्जी इंफ्रास्ट्रक्चर पर दबाव, रैगिस्तानी देश की आर्थिक महत्वाकांक्षाएं कमजोर करता है। सऊदी अरब की अर्थव्यवस्था में विविधता लाने और उसे बढ़ाने के लिए क्राउन प्रिंस मोहम्मद बिन सलमान के ‘विजन 2030’ प्लान की सफलता, काफी हद तक इसपर निर्भर करेगी कि निवेशक और पर्यटक वहां की राजनीतिक स्थिरता को कैसे देखते हैं। अगर कोई दुश्मन देश की दक्षिणी सीमा के पार से लगातार हमले करने में सक्षम है, तो यह उस वादे के लिए एक चुनौती है- भले ही बाहर से आने वाले कितने भी हथियारों को बीच में ही रोक दिया जाए।

तुर्की और पाकिस्तान, दोनों के

लिए यमन युद्ध में शामिल होने

का मतलब है इस क्षेत्र में अपने

दूसरे हितों को जोखिम में डालना



यह संघर्ष सऊदी अरब की सीमाओं से कहीं आगे तक फैला है। ईरान के साथ युद्ध के कारण होर्मुज जलडमरूमध्य से होने वाली शिपिंग पर रोक लगने से, बाब अल-मंदाब से होकर जाने वाले सऊदी अरब के पश्चिमी निर्यात रास्ते और भी महत्वपूर्ण हो गए हैं। प्रायद्वीप के पार लाल सागर की ओर कच्चा तेल ले जाना एक विकल्प तो है, लेकिन पाइपलाइन, बंदरगाह और टैंकर अब भी खतरे की जद में हैं। बाब अल-मंदाब को खतरे में डालने की हतियों की क्षमता उन्हें अंतरराष्ट्रीय व्यापार पर बढ़त दिलाती है, जिससे अरब प्रायद्वीप के बाहर के देशों पर भी असर पड़ता है।

सऊदी समर्थित यमनी सेनाओं ने हूती कब्जे वाले इलाकों को वापस पाने के लिए हमले शुरू

किए हैं, लेकिन यमन के राजनीतिक भविष्य का फैसला करना और सऊदी शहरों की सुरक्षा एकदम अलग-अलग लक्ष्य हैं। मक्का समझौते में पहले वाले सवाल का कोई जवाब नहीं है। वापस लिए गए इलाकों पर किसका शासन होगा? यमन के अलग-अलग गुटों में सत्ता का बंटवारा कैसे होगा? समुदाय कौन सा समझौता मानेंगे? इन सवालों के भरोसेमंद जवाब के बिना, सैन्य कार्रवाई से युद्ध का स्थायी अंत होने के बजाय केवल नए मोर्चे और नई शिकायतें ही पैदा होंगी।

सऊदी अरब के प्रति हतियों की दुश्मनी की जड़ें यमन के राजनीतिक और धार्मिक जीवन पर रियाद के प्रभाव में गहरी हैं। हतियों को ईरान का समर्थन तो हासिल है, लेकिन उन्हें

सिर्फ तेहरान के मोहरे के तौर पर देखना उनकी अपनी महत्वाकांक्षाओं और स्थानीय जड़ों को

नजरअंदाज करना होगा। 2015 से सऊदी अरब की दखलंदाजी यमन में मजबूत पकड़ वाली

दोस्ताना सरकार बहाल करने में नाकाम रही है

तथा कुछ और सहयोगियों को साथ लेने से भी

इसमें कोई बदलाव नहीं आने वाला।

पाकिस्तान के पास सीधे तौर पर शामिल न होने के अपने मजबूत कारण हैं। हालाँकि सऊदी अरब से मिलने वाली आर्थिक मदद और रक्षा सहयोग इस्लामाबाद को वफादारी दिखाने को प्रेरित करते हैं, लेकिन पाकिस्तान की सीमा ईरान से भी लगती है और उसने इस व्यापक संघर्ष में कूटनीतिक भूमिका निभाने की कोशिश भी की है। हतियों के खिलाफ लड़ने से तेहरान से उसके रिश्ते खराब हो सकते हैं। देश के भीतर संप्रदायिक तनाव, पहले से मौजूद सुरक्षा का बोझ और इमरान खान समर्थकों का बढ़ता राजनीतिक विरोध इस फैसले को और मुश्किल बनाता है। ऐसा गठबंधन जो पाकिस्तान की

मक्का समझौते पर हस्ताक्षर के समय तुर्की, सऊदी अरब और पाकिस्तान के नेता, (बाएं) यमन में सऊदी के दखल का विरोध करते हूती समर्थक

अंतरराष्ट्रीय साख को बढ़ाता है, वह किसी महंगे विदेशी कमिटमेंट को ठुकराने की उसकी आजादी को भी कम कर सकता है।

तुर्की भी ऐसे ही हालात से गुजर रहा है। सऊदी अरब की रक्षा में मदद करने से खाड़ी के मामलों में अंकारा का असर बढ़ता है और सैन्य सहयोग के मौके बनते हैं। यमन की लड़ाई में शामिल होने से उस पर जवाबी हमले का खतरा हो सकता है और सेना को लंबे समय तक वहां जूझना पड़ सकता है। नाटो की सदस्यता का मतलब यह नहीं कि तुर्की के हर ऑपरेशन को गठबंधन की सुरक्षा अपने-आप मिल जाएगी। और न ही पाकिस्तान के परमाणु ताकत होने का मतलब सऊदी अरब के लिए परमाणु सुरक्षा की गारंटी है। इन रिश्तों के बारे में बढ़ा-चढ़ाकर की गई धारणाएं ऐसे जोखिम पैदा कर सकती हैं, जिन्हें असल वादे सही नहीं ठहराते।

एक और बड़ा खतरा यह कि यह समझौता पूरे इलाके में पहले से फैल रहे संघर्षों को आपस में जोड़ता है। फरवरी 2026 में ईरान पर अमेरिका और इसराइल के हमलों ने एक ऐसी जंग छेड़ दी, जिसके नतीजे अब अरब प्रायद्वीप के दोनों तरफ महसूस किए जा रहे हैं। लड़ाई में तुर्की या पाकिस्तान के सैनिक मारे जाने से जवाबी कार्रवाई का दबाव बन सकता है। जवाबी कार्रवाई से उनकी सेनाओं या हितों पर हमले बढ़ सकते हैं। ऐसे में सरकारें गठबंधन की साख बनाए रखने के लिए कदम बढ़ा सकती हैं, जिससे सीमित सुरक्षा देने का उसका मूल मकसद ही धराशायी हो सकता है।

भारत को इस घटनाक्रम को गंभीरता से लेना होगा। पाकिस्तान के बाहरी सुरक्षा संबंधों का आकलन अब मुख्य रूप से चीन के साथ उसकी साझेदारी के आधार पर नहीं किया जा सकता। मक्का समझौते ने पाकिस्तान के खिलाफ भारत की भविष्य की सैन्य कार्रवाई से जुड़े समीकरणों में सऊदी अरब और तुर्की को भी शामिल कर दिया है। उनका दखल अपने आप नहीं होगा; हमले के हालात, सींध की व्याख्या और राष्ट्रीय फैसले मायने रखेंगे। फिर भी, नई दिल्ली यह नहीं मान सकती कि दंडात्मक कार्रवाई या जिसे मोदी ‘सर्विकल स्ट्राइक’ के तौर पर पेश करते हैं, वह सिर्फ दो देशों के बीच की बात तक ही सीमित रहेगी। राजनीतिक समर्थन, खुफिया जानकारी और सैन्य आपूर्ति से टकराव का स्वरूप बदल सकता है, भले ही सहयोगी देशों की सेनाएं युद्ध के मैदान में न उतरें। ■

अशोक खैन सीडन वी उखला युनिवर्सिटी में पीएस डी कॉन्सल्टंट रिसर्च के प्रोफेसर हैं

अमेरिकी बमवर्षक विमान हटाने के पीछे क्या है?



अमेरिका द्वारा वापस बुलाए जाने से ठीक पहले ग्लूसेस्टरशायर के आरएफ फेयरफोर्ड में बी। बॉम्बर

आशीष रॉय

द्वितीय विश्व युद्ध के बाद से ही अमेरिकी सशस्त्र बल ब्रिटिश धरती पर तैनात रहे हैं। तत्कालीन ब्रिटिश प्रधानमंत्री सर विंस्टन चर्चिल की अपील पर अमेरिका नाजी जर्मनी के खिलाफ मित्र देशों के अभियान में शामिल हुआ था। 6 जून 1944 के ऐतिहासिक दिन ब्रिटेन और अमेरिका की संयुक्त सेनाएं नॉर्मैंडी के तट पर उतरीं, फ्रांस को जर्मन कब्जे से मुक्त कराया और यूरोप में युद्ध का पासा पलट दिया।

दोनों देश, खास तौर पर व्हाइटहॉल (ब्रिटिश सरकार), यूएस-यूके के इस

सदाबहार गठबंधन को ‘विशेष संबंध’ के रूप में संबोधित करते रहे। कभी-कभार आने वाले उतार-चढ़ावों के बावजूद उनकी एकजुटता अटूट रही और वाशिंगटन की तुलना में लंदन ने इस आपसी समझ का कहीं अधिक निष्ठा से पालन किया है।

सन् 1982 में, जब प्रधानमंत्री मागरेट थैचर ने दक्षिण अटलांटिक में अर्जेंटीना से फॉकलैंड द्वीप वापस छीनने के लिए रॉयल नेवी को रवाना किया था, तब ब्रिटेन की प्राथमिकता संयुक्त सैन्य अभियान की थी। 1983 में, जब अमेरिकी सैनिकों ने पूर्वी कैरेबियाई देश ग्रेनाडा के प्रधानमंत्री मौरिस बिशप को सत्ता से बेदखल करने और उन्हें

मार गिराने के लिए पैराशूट से धावा बोला, तब ब्रिटेन को भरोसे में नहीं लिया गया था। यह सीधे-सीधे अपमान था क्योंकि महारानी एलिजाबेथ द्वितीय ग्रेनाडा की राष्ट्राध्यक्ष थीं।

इसके बाद 2003 का दौर आया, जब ब्रिटिश प्रधानमंत्री टोनी ब्लेयर ने इराक पर विवादित आक्रमण में अमेरिकी राष्ट्रपति जॉर्ज बुश का पूरा साथ दिया। सीआईए के इस दावे के उलट कि सद्दाम हुसैन की सत्ता के पास ‘सामूहिक विनाश के हथियार’ थे, उनके पास ऐसा कुछ भी नहीं था और इसलिए वह अमेरिका क्या, किसी भी मुल्क के लिए परमाणु खतरा नहीं थे।

इस साल ब्रिटिश प्रधानमंत्री सर कीर

स्टार्मर ने ईरान पर राष्ट्रपति डॉनल्ड ट्रंप के गैर-कानूनी हमले में शामिल होने से इनकार करके सहयोग के इस रुख को पलट दिया। ट्रंप ने जवाबी तैवर दिखाते हुए संकेत दिया कि फोर्कलैंड पर अर्जेंटीना का क्षेत्रीय अधिकार है, जबकि ठीक उसी समय व्यूनस आयर्स की दक्षिणपंथी सरकार की तरफ से भी आक्रामक बयान सामने आ रहे थे।

ब्रिटेन के रॉयल एयर फोर्स (आरएएफ) ठिकानों पर मौजूद अमेरिकी वायुसेना स्टेशनों में से एक ग्लॉस्टरशायर स्थित आरएएफ फेयरफोर्ड भी है। हाल के महीनों में, जब ब्रिटेन ने ईरान पर रक्षात्मक हमलों के अमेरिकी अनुरोध को मंजूरी दी, तो अमेरिकी बी-1 और बी-52 बमवर्षक विमान फेयरफोर्ड से पश्चिम एशिया की ओर उड़ान भरते रहे।

27 सितंबर को स्थानीय निवासियों ने एयरबेस के पास तीन सफेद बैन देखीं और पुलिस को ‘संदिग्ध गतिविधि’ की सूचना दी। विस्फोटक और आतंकवाद से जुड़े अपराधों के संदेह में पांच लंदनवासियों और एक ब्रिटिश-ईरानी नागरिक (सभी की उम्र 20 से 30 वर्ष के बीच) को गिरफ्तार किया गया, उन्हें हथकड़ी लगाई गई और पूछताछ की गई। इसे एक ‘संभावित आतंकी साजिश’ करार दिया गया।

सहायक पुलिस आयुक्त ने मीडिया को बताया कि जांच अधिकारी फिलहाल कई कोणों से पड़ताल कर रहे हैं, जिसमें यह भी शामिल है कि क्या कुछ मु्खौटे या व्यक्ति (जाने-अनजाने) किसी विदेशी हुकूमत के इशारे पर काम कर रहे थे?

मामले की अगुवाई कर रही ब्रिटेन की आतंकवाद-रोधी पुलिस ने कहा कि वैनो में कोई आईईडी (विस्फोटक उपकरण) नहीं मिला, लेकिन ‘कुछ मात्रा में पेट्रोल’ जरूर बरामद हुआ।

जब यह घटना सार्वजनिक हुई, तो अमेरिकी सेना ने बयान दिया कि वह ‘स्थिति पर नजर रखने, प्रभावों को न्यूनतम करने और अमेरिकी कर्मियों, उनके परिवारों व स्थानीय समुदाय की सुरक्षा सुनिश्चित करने के लिए’ अपने ब्रिटिश समकक्षों के साथ मिलकर काम कर रही है। इसके साथ ही, आसपास के 85 घरों को अस्थायी तौर पर खाली करा लिया गया।

28 सितंबर को अमेरिकी विदेश मंत्री मार्को रुबियो ने फॉक्स न्यूज से कहा

कि इसमें साफ तौर पर किसी ‘विदेशी ताकत’ का हाथ था। एक अन्य समाचार माध्यम से बातचीत में उन्होंने इसे ‘बेहद गंभीर स्थिति’ बताया।

हालाँकि, गिरफ्तार लोगों को जमानत पर रिहा कर दिया गया, भले ही उनकी आवाजाही और दूसरों से संपर्क पर सख्त शर्तें लगाई गई थीं। ट्रंप ने इसपर हैरानी जताते हुए कहा, ‘हम उनके बारे में सब कुछ जानते हैं, हम उन्हें कभी नहीं छोड़ते।’ यहां तक कि उन्होंने दावा किया, ‘वे लंबे समय से हमारी नजर में थे और हमने उन्हें धर दबोचा था।’

ब्रिटिश प्रधानमंत्री स्टार्मर ने जनता से अपील की कि ‘जब तक अधिकारी तथ्यों की पुष्टि न कर लें, अटकलें न लगाएं।’ ईरान की संलिप्तता की ओर इशारा करने वाले ‘तमाम संकेतों’ का हवाला देते हुए उन्होंने कहा: ‘हम सही समय पर विस्तृत जानकारी देंगे, लेकिन हम पुष्टि कर सकते हैं (...) कि हमारा मानना ​​है कि इसमें ईरान की भूमिका है।’

इसके जवाब में लंदन स्थित ईरानी दूतावास ने इस घटना से ईरान को जोड़ने वाली बातों को ‘निराधार और दुर्भावनापूर्ण अटकलें’ बताते हुए पूरी तरह खारिज कर दिया और कड़ी निंदा की। उसने ईरान और उसके नागरिकों के अधिकारों व हितों की रक्षा

के लिए कानूनी कार्रवाई की चेतावनी तक दे डाली।

ब्रिटिश और अमेरिकी जांच के तौर-तरीकों में बुनियादी फर्क है। ब्रिटिश जांच एजेंसियां सुरागों के विश्लेषण और पड़ताल पर ज्यादा भरोसा करती हैं और अक्सर बेहतर नतीजे देती हैं। नेवजह की सख्ती उनका मिजाज नहीं है। संदिग्धों को जमानत पर रिहा करने से उनकी सतर्कता ढीली पड़ सकती है, जिससे जांचकर्ता असली साजिशकर्ताओं तक पहुंच सकते हैं। जल्द ही साफ हो जाएगा कि यह रणनीति कामयाब होती है या नहीं।

इस बीच, अमेरिकी प्रशासन तुरंत हरकत में आ गया। फेयरफोर्ड से आठ बी-1 बमवर्षक विमानों को हटाकर वापस अमेरिका भेज दिया गया। ट्रंप ने कहा कि ऐसा ‘कुछ खतरों’ के चलते किया गया। अमेरिकी मीडिया ने संकेत दिया कि यह फैसला उन खुफिया सूचनाओं के आधार पर लिया गया जिनमें कहा गया था कि ईरान महंगे अमेरिकी विमानों पर ड्रोन हमले की साजिश रच रहा है। ट्रंप ने इस पर सीधा बयान देने से परहेज किया, लेकिन वाशिंगटन में चर्चा गरम रही कि अगर फिर से अमेरिका-ईरान टकराव शुरू होता है तो ऐसी आशंका बन सकती है।

10 डाउनिंग स्ट्रीट ने फेयरफोर्ड एयरबेस को पूरी तरह सुरक्षित बताकर ऐसी खबरों को प्रभावी रूप से खारिज कर दिया। उसने ट्रंप के उस पुराने बयान की ओर ध्यान दिलाया जिसमें उन्होंने इस एयरबेस के संदर्भ में ब्रिटेन की पुलिस, रक्षा और सुरक्षा एजेंसियों की तारीफ की थी।

जहां रुबियो ने खतरे की थ्योरी को कमतर आंकते हुए कहा कि सैन्य इकाइयों और हथियारों का इधर-उधर किया जाना कोई ‘असामान्य बात नहीं’ है, वहीं ट्रंप की टिप्पणियों ने उनके उस झूठे विमर्श को हवा दी है कि ब्रिटेन की आब्रजन नीति के चलते वहां मुस्लिम आतंकवादियों की भरमार हो गई है। यह स्थिति ब्रिटेन के लिए असहज करने वाली रही है। बहरहाल, चूंकि अंतरराष्ट्रीय समुदाय ट्रंप के बयानों को बहुत गंभीरता से नहीं लेता, इसलिए ब्रिटेन की साख को पहुंचने वाला नुकसान सीमित ही रहेगा। अधिक मौजू सवाल तो यह है: क्या इन बमवर्षक विमानों की वापसी रूस से पैदा होने वाले किसी काल्पनिक खतरे के सामने पश्चिमी यूरोप की अपनी रक्षा करने की क्षमता को कमजोर करती है? ■

मौजू सवाल तो यह है: क्या इन

बमवर्षक विमानों की वापसी रूस

से पैदा होने वाले किसी काल्पनिक

खतरे के सामने पश्चिमी यूरोप की

अपनी रक्षा करने की क्षमता को

कमजोर करती है?

एआई के दौर में शिक्षा का संकट

विद्यार्थियों की नई पीढ़ी को स्वाधीन मनन-विश्लेषण के बजाय एआई पर निर्भर होने से बचाना शिक्षकों के लिए बड़ी चुनौती है

लवीना झागियानी और अखिल कात्याल

पिछले दो सालों के दौरान हमने उच्च शिक्षा के क्षेत्र में अपने पैरों तले जमीन खिसकती महसूस की है। आर्टिफिशियल इंटेलिजेंस (एआई) ने कॉलेज के क्लासरूम में हमारे काम करने के तौर-तरीकों को पूरी तरह बदल दिया है। छात्रों की जिस नई पीढ़ी को हम पढ़ा रहे हैं, जो अभी-अभी स्कूल की दहलीज पार कर आई है, उसने अपने शुरुआती वर्षों में ही एआई को देखा-जाना और (अधिकतर ने) इसे ऐसे साधा जैसे मछली को पानी मिल गया हो। इस पर उनकी निर्भरता असाधारण रूप से बहुत अधिक है। विश्वविद्यालयी जीवन के हर पहलू- पढ़ाने, सीखने और सोचने-को इस युगांतरकारी बदलाव ने प्रभावित किया है।

एआई और उसके खतरों को लेकर सार्वजनिक विमर्श आमतौर पर इसके पर्यावरण और व्यापार पर पड़ने वाले प्रभावों के इर्द-गिर्द घूमता है, न कि इस बात पर कि यह हमारे दिमाग के साथ क्या कर रहा है। पर्यावरण को पहुंचने वाले नुकसान पर अक्सर चिंताएं जताई जाती हैं, जैसे तेजी से बढ़ते एआई डेटा केंद्रों में कूलेंट के रूप में जल संसाधनों का अंधाधुंध दोहन। हम कॉपीराइट वाली सामग्री की बड़े पैमाने पर चोरी को लेकर भी आशंकाएं सुनते हैं, जिसका संकेत उन हालिया रिपोर्टों से मिलता है जिनमें दुर्लभ पुस्तकों को खरीदने, उन्हें स्कैन करने और एआई के प्रशिक्षण डेटा के रूप में इस्तेमाल करने के बाद नष्ट कर दिए जाने की बात कही गई है।

जनता की ये चिंताएं एआई की सीखने की क्षमता और अंततः शारीरिक श्रम की जगह ले लेने से जुड़े डरावने परिदृश्यों तक भी फैली हैं। इसका उदाहरण विकासशील देशों के उन फैक्ट्री मजदूरों की व्यापक रूप से प्रसारित तस्वीरों में मिलता है, जिन्हें अपने माथे पर कैमरे बांधने के लिए मजबूर किया जा रहा है, ताकि एआई रोबोटों को उनके हाथों की गतिविधियों की नकल करने का प्रशिक्षण दिया जा सके। यह अपनी ही कन्न में काम करने जैसा लगता है- अपनी तय विदाई की आशंका से जूझते एक मजदूर ने यह टिप्पणी की थी। हाल ही में, सुपरइंटेलिजेंस के बेहद तेज विकास को लेकर कयामत जैसा खौफ



जब छात्र जरूरी काम एआई टूल्स को सौंपते हैं, तो यह सिर्फ शॉर्टकट नहीं होता-जानकार इसे दिमागी बोझ कम करने का तरीका मानते हैं

सामने आया है, जो वैश्विक स्तर पर बहुत जल्दी बेकाबू हो सकता है, जैसा कि एआई के तीन बड़े दिग्गजों- ऑल्टमैन, अमोदेई और मस्क-ने स्वीकार किया है।

हालांकि, विश्वविद्यालयों में, जहां मानवीय मस्तिष्क का विकास ही मुख्य लक्ष्य है, हमारे सामने एक बिल्कुल अनोखी समस्या खड़ी है। यहां एक तरह का 'संज्ञानात्मक औपनिवेशीकरण' साफ महसूस किया जा सकता है, जो हमारे मूल काम-यानी पढ़ने, लिखने और सोचने-की बुनियाद पर ही सीधा प्रहार करता है। पिछले पांच वर्षों में एआई ने चुपके से हमारे संस्थानों में घुसपैठ की है और इन तीनों गतिविधियों के तौर-तरीकों को बदल दिया है। क्लासरूम के भीतर और बाहर, हम देखते हैं कि छात्र इस अहम काम की जिम्मेदारी एआई टूल्स को सौंप रहे हैं। यह सिर्फ कोई शॉर्टकट नहीं। विशेषज्ञों ने इसे 'संज्ञानात्मक बोझ हल्का करने' का रूप कहा है, जिसका सीधा मतलब है कि लंबे समय में यह हमारे दिमाग की वास्तविक क्षमताओं को सिकोड़ देता है।

साहित्य के शिक्षक होने के नाते हम

जब छात्र एआई पर निर्भर होते

हैं, तो वे अपनी खुद की आवाज

खोजने की संभावना को सीमित

कर देते हैं



जानते हैं कि खुद पढ़ना और सोचना एक बेहद खूबसूरत और साथ ही सिर खपाने वाली प्रक्रिया हो सकती है। इसे ऐसा ही होना चाहिए। किसी भी छात्र के लिए साहित्यिक रचना-उसकी पंक्तियों और शब्दों की विशिष्टता-से जूझना उसकी सोच के परिपक्व होने का अनिवार्य हिस्सा होता है। बदले में और अभ्यास के साथ, यह उन्हें अपने इर्द-गिर्द की दुनिया और उसकी जटिलताओं को समझने की दृष्टि देता है, जिससे वे जिज्ञासु और आलोचनात्मक नागरिक बनते हैं। विश्वविद्यालय के स्तर पर उन्हें उस कसौटी से गुजरना ही चाहिए जहां वे हर वाक्य पर अटकते हैं, उसके अर्थ पर बहस करते हैं और अपने विचारों को पन्ने पर उतारने के लिए व्यक्तिगत संघर्ष करते हैं। हम इस शुरुआती कशमकश को एक जरूरी और आनंददायक चरण मानते हैं। मगर एआई के दौर में हम ऐसा होते बहुत कम देख रहे हैं। अधिकतर छात्र क्लाउड या जेमिनी से

यह राज्य है या बेशकीमती रियल एस्टेट का टुकड़ा?

धारा 118 के कानूनी छेदों ने हिमाचल को बाहरी बिल्डरों और जमीन के दलालों

की खुली लूट का मैदान बना दिया है

अमय शुक्ला

हिमाचल प्रदेश में अनियंत्रित निर्माण कार्यों पर लिखे मेरे एक हालिया ब्लॉग पर प्रतिक्रिया देते हुए एक जागरूक पाठक ने टिप्पणी की कि उन्होंने राज्य में बिज्नी के लिए उपलब्ध संपत्तियों की ऑनलाइन पड़ताल की थी। उन्हें यह देखकर गहरा सदमा लगा कि केवल शिमला से नारकंडा के बीच, जो लगभग 90 किलोमीटर का दायरा है, 23,450 संपत्तियों की बिज्नी, किराये या लीज के विज्ञापन थे।

अगर माना जाए कि इनमें से कुछ विज्ञापन बार-बार आए होंगे, तब भी ये आंकड़े एक ऐसी कड़वी हकीकत बयां करते हैं जिस पर हमारे नीति-निर्माताओं को तत्काल ध्यान देने की जरूरत है। दोषपूर्ण नीतियां, दूरदर्शिता का अभाव और बुनियादी अर्थशास्त्र की नासमझी हिमाचल को एक ऐसी बेशकीमती रियल एस्टेट में बदल रही है, जिसे हथियाने के लिए व्यवस्था का फायदा उठाने वाला कोई भी पैसे वाला और रसूखदार व्यक्ति पूरी तरह आजाद है।

लेकिन पहले, पृष्ठभूमि समझते हैं। हिमाचल में जमीन बेहद दुर्लभ और कीमती संपदा है। इसके कुल 55.67 लाख हेक्टेयर भौगोलिक क्षेत्र में 15 करोड़ 8 लाख 15 प्रतिशत से भी कम यानी लगभग 8 लाख हेक्टेयर ही है। शेष पूरा क्षेत्र जंगलों, 'गैर मुमकिन' भूमि या पेड़-पौधों की सीमा से ऊपर की उन पथरीली पहाड़ियों पर फैला है जहां कुछ नहीं उगता। खेती के तहत वास्तविक रकबा तो मात्र 5.25 लाख हेक्टेयर के आसपास है।

यहां खेती लगभग केवल जीवन-यापन के स्तर पर टिकी है। औसत जोत का आकार 0.94 हेक्टेयर है (जबकि पंजाब में यह 3.64 हेक्टेयर है) और कुल कृषि योग्य भूमि का 89 प्रतिशत हिस्सा छोटे और सीमांत किसानों के हाथों में है। यहां उद्योग-धंधे न के बराबर हैं और राज्य देश में सबसे अधिक

बेरोजगारी दर वाले क्षेत्रों में है।

इन कारणों से, जैसा कि निर्मन्यु चौहान और दिव्यांशु ठाकुर ने अपने आलेख (द वायर, 8 मार्च 2026) में स्पष्ट लिखा था, इस राज्य में जमीन सिर्फ एक वस्तु नहीं; यह सम्मान, आजीविका, स्वायत्तता और सामाजिक सुरक्षा का आधार है।

हिमाचल के पहले मुख्यमंत्री वाई. एस. परमार के पास इस संवेदनशीलता को समझने की गहरी दूरदर्शिता थी। उन्होंने यह सुनिश्चित करने के ठोस कदम उठाए कि हिमाचल के लोगों को बाहरी धन्लासेटों और शोषक तत्वों द्वारा उनकी अपनी जमीन से बेदखल न किया जाए। वह 1972 में हिमाचल प्रदेश काश्तकारी एवं भूमि सुधार अधिनियम लेकर आए, जिसकी धारा 118 गैर-हिमाचलियों द्वारा राज्य में जमीन खरीदने पर कड़े प्रतिबंध लगाती है। बाहरी लोग केवल सरकार की पूर्व-स्वीकृति के बाद ही जमीन खरीद सकते हैं।

दुर्भाग्य से, बाद के मुख्यमंत्रियों में वह दूरदर्शिता नहीं दिखी। उन्होंने इस कानून में इतनी रियायतें और रास्ते छोड़ दिए कि आज कोई भी चालाक वकील या खरीदार किसी भी मकसद से राज्य में कितनी भी जमीन खरीद सकता है। शिमला-नारकंडा के आंकड़े साबित करते हैं कि यह खेल कितने बड़े पैमाने पर चल रहा है। पिछले तीन सालों में ही 1,494 स्वीकृतियां दी गई हैं, लेकिन यह तो समुद्र में दिखने वाले हिमखंड का ऊपरी सिरा भर है- मूल समस्या की गहराई कहीं भयावह है।

बाहरी लोगों द्वारा जमीन की वास्तविक खरीद और हस्तांतरण आधिकारिक रूप से बताई गई स्वीकृतियों की संख्या से कई गुना अधिक होगा। धारा 118 के तहत मिली तमाम रियायतों की बदौलत किसानों की सोसायटी, शहरी क्षेत्रों में बने फ्लैट, लीज पर लिए गए मकान या फ्लैट अथवा रेरा स्वीकृत बिल्डर प्रोजेक्ट्स के लिए सरकारी मंजूरी की

जरूरत ही नहीं पड़ती। ये रियायतें दरअसल वे कानूनी रास्ते हैं जिन्होंने हिमाचल को भू-माफियाओं और बिल्डरों के हवाले कर दिया है।

कानून के शिकंजे से बचने के लिए बेनामी जमीन हस्तांतरण का भी धड़ल्ले से इस्तेमाल हो रहा है। उत्तर भारत के शहरों और महानगरों में रहने की स्थितियां जैसे-जैसे बदतर हो रही हैं, विशेषकर कोविड के बाद उत्तराखंड और हिमाचल जैसी जगहों पर सेकंड होम बनाने वालों की तादाद तेजी से बढ़ी है। इसका सबसे घातक असर ग्रामीण हिमाचल और यहां के मूल निवासियों पर पड़ रहा है।

जमीन के दाम आसमान छू रहे हैं। अचानक मोटी रकम मिलने के आकर्षण में फंसा हिमाचली जमीन मालिक अपनी पुश्तैनी जमीन से बेदखल हो रहा है और उसकी जगह होटल, होमस्टे, बिल्डर प्रोजेक्ट्स और रिजॉर्ट्स लेते जा रहे हैं। यह पहाड़ों की पूरी बनावट को बदल रहा है, हरियाली की जगह कंक्रीट बिछा रहा है, जनसांख्यिकी को बिगाड़ रहा है (जैसा कि उत्तराखंड के खाली होते 'भूतहा गांवों' में देखा गया) और स्थानीय संस्कृति को नुकसान पहुंचा रहा है। यहां दौंव पर केवल पहाड़ों का भू-विज्ञान नहीं, बल्कि पूरे राज्य का अस्तित्व और उसकी मूल पहचान है।

राज्य के नीति-निर्माताओं को जमीन के इस बेलगाम हस्तांतरण के दूरगामी परिणामों पर गौर करना होगा। अब समय आ गया है कि धारा 118 की समीक्षा की जाए और इसे और अधिक कड़ा बनाया जाए।

इस धारा के तहत ग्रामीण इलाकों में होटल और रिजॉर्ट्स के निर्माण की कोई मंजूरी नहीं मिलनी चाहिए-ये ग्रामीण अंचलों को उसी तरह तबाह कर रहे हैं जैसे इन्होंने शहरों को बर्बाद किया। तीर्थन घाटी, जलोढ़ी दर्रे से जिभी तक का रास्ता, कभी बेहद शांत रहा बड़ोग या मशोबरा-नालदेहरा का इलाका

फोटो: गैरी इक्कींग



शिमला की खड़ी ढलानों पर घनी रिहाइशी इमारतें यह समझने के लिए पर्याप्त हैं कि हिमाचल में बेशकीमती जमीनों के साथ क्या हो रहा है

देखकर कोई भी समझ सकता है कि कैसे इस शांत प्रदेश को बहुमंजिला इमारतों के कंक्रीट के ढेर में बदला जा रहा है।

रियल एस्टेट विकास, हाउसिंग सोसायटियों, बहुमंजिला अपार्टमेंट ब्लॉकों या विला के लिए धारा 118 की मंजूरियों पर पूर्ण प्रतिबंध होना चाहिए। अधिनियम में मौजूद सभी मौजूदा छूटों की समीक्षा की जानी चाहिए, विशेष रूप से वे जो रेरा परियोजनाओं, फ्लैटों की खरीद और लीज से संबंधित हैं।

कानून में कुछ नए कड़े प्रावधान जोड़ने की सख्त जरूरत है-उदाहरण के लिए, साधन-संपन्न बाहरी लोगों और बिल्डरों द्वारा शोषण रोकने के लिए अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति और बीपीएल परिवारों की जमीन की खरीद पर पूर्ण रोक (जैसा उत्तराखंड में है) लगाई जानी चाहिए।

सरकार स्वीकृत विशिष्ट परियोजनाओं को छोड़, जो गैर-हिमाचली राज्य में जमीन खरीदना चाहते हैं, उनके लिए अनिवार्य होना चाहिए कि वे सेवा, व्यवसाय या परिवार के माध्यम से न्यूनतम वर्षों तक राज्य से अपना संबंध साबित करें।

बेशक, इस दिशा में कदम उठाने में कई कानूनी और राजनीतिक अड़चनें आएंगी। कुछ पंचायतों से विरोध होना तय है क्योंकि जमीन के दाम गिरेंग; जमीन के दलालों और रियल एस्टेट कंपनियों के इशारे पर चलने

यह पूछने का आसान रास्ता चुन लेते हैं: 'मुझे इस लेख का सार बताओ', 'मेरे लिए इस निबंध का संक्षेप करो' या फिर वे सीधे असाइनमेंट के सवाल को एआई इंजन में डाल देते हैं। साहित्य के शिक्षकों के तौर पर यह स्थिति, सच कहें तो, विनाशकारी है।

जैसा कि हम जानते हैं, एआई कभी 'सोचता' नहीं है। इसके बजाय वह केवल पैटर्न को प्रोसेस करता है। वह अपने पास मौजूद अरबों शब्दों और वाक्यों के कच्चे माल, यानी अन्य लोगों के सोचने के तौर-तरीकों के एक विशाल घालमेल को लेता है, और सबसे संभावित परिणाम का अनुमान लगाकर उसे पेश कर देता है। यह अक्सर लीक पर चलने वाला और न्यूनतम प्रतिरोध के रास्ते से निकाला गया परिणाम होता है, जो विचार और अभिव्यक्ति के स्तर पर किसी भी वास्तविक मौलिक खोज की संभावना को पूरी तरह खत्म कर देता है। यह सोचने के किसी व्यक्तिगत अंदाज के लिए बहुत कम जगह छोड़ता है, उस मौलिक सनक या अलहदा सोच की तो बात ही छोड़ दीजिए जो किसी भी विश्वविद्यालयी क्लासरूम का असली आनंद होती है। सोच के ऐसे रूप धैर्य, अभ्यास, किताबों में डूबने और साथियों व शिक्षकों के साथ आमने-सामने की तमाम सुखद और उलझन भरी बहसों से निकलते हैं। इनमें से हर अनुभव परत की तरह हमारे भीतर धीरे-धीरे इकट्ठा होता है और दुनिया के बारे में हमारे सोचने के नजरिए को तराशता है। चैटजीपीटी से झट उत्तर निकाल लेने से यह कतई मुमकिन नहीं।

इसका अर्थ यह है कि जब छात्र एआई पर हद से ज्यादा निर्भर हो जाते हैं, तो वे अपनी खुद की व्यक्तिगत 'आवाज' विकसित होने की संभावना को खत्म कर देते हैं। वह विशिष्ट आवाज जो उनके जीवन के सभी अनुभवों, पठन-पाठन, सहमतियों, असहमतियों और विकसित होते दृष्टिकोणों के अनूठे मेल से बनती है। यह मौलिक आवाज हमारी शिक्षण-पद्धति का इतना केंद्रीय हिस्सा है कि हमारा एक मुख्य उद्देश्य हर छात्र को दूसरे से यथासंभव अलग लिखने के लिए प्रेरित करना होता है; ताकि हर रचना पर उनके अपने हस्ताक्षर हों। जब भी हम किसी छात्र को केवल उसके लेखन से पहचान पाते हैं, तो हमें लगता है कि हमारी मेहनत सफल

हुई। एआई ने इस संभावना का गला घोट दिया है।

एआई से प्रभावित लेखन विशिष्टता की जगह एकरूपता और आलोचनात्मक चिंतन के बदले अंधानुकरण दिखाता है। ऐसे काम में हमें सही लगने वाले, तार्किक रूप से ठीक-ठाक लेखन का एक ऐसा ढेर दिखाई देता है जो इसानी चेतना और इरादे के लगभग हर संकेत से पूरी तरह खाली होता है। इस तरह के लेखन में अक्सर एक जैसे उदाहरण होते हैं, घटनाओं और पात्रों के विवरण में उन्हीं शब्दों का इस्तेमाल होता है, वे एक जैसे बेअसर नतीजों पर पहुंचते हैं और ऊपर से सजावटी विशेषण जड़ देते हैं। ऐसा लगता है मानो अलहदा, व्यक्तिगत मस्तिष्कों के बजाय विचारों की कोई गुप्त असेंबली लाइन काम कर रही हो। उच्च शिक्षा के लिए यह आलोचनात्मक सोच और कल्पनाशीलता को विकसित करने के हमारे मार्गदर्शक लक्ष्य को ही पटरी से उतार देता है। ऐसा संज्ञानात्मक औपनिवेशीकरण एक बड़े उथल-पुथल भरे मोड़ का संकेत देता है। यह अकादमिक जगत के भीतर और बाहर दोनों जगह एक बेहद चिंताजनक दौर को रेखांकित करता है।

विश्वविद्यालयों में हमारा काम तब व्यक्तिगत सोच की तेजी से संकटग्रस्त होती प्रज्ञाति को बचाने का रह जाता है। विश्वविद्यालय से जुड़ी हर चीज-हमारे पढ़ाने का तरीका, हमारे मूल्यांकन का तरीका, हमारे छात्रों का ज्ञान के साथ जुड़ने का नजरिया-पर ध्यान देने और उसे एआई की लंबी पहुंच से छुड़ाने की जरूरत है। हमें छात्रों को यह दिखाने का रास्ता खोजना होगा कि अपने बलबूते सोचना कितना आनंददायक और संतोषजनक हो सकता है। शॉर्टकट के बजाय लंबा रास्ता कैसे उनके पेशेवर जीवन और एक संवेदनशील, हमेशा जिज्ञासु तथा अपनी हर क्षमता के प्रति सजग इंसान के रूप में विकसित होने के लिए गहराई से मददगार साबित हो सकता है। एआई के तुरंत उपलब्ध उत्तरों के सामने यह अक्सर गोलियाथ के सामने डेविड की लड़ाई जैसा महसूस होगा। हमारे सामने असल में यही सबसे बड़ी चुनौती है। ■

लवीना झागियानी और अखिल कात्याल बिट्ठू लॉ स्कूल राइटिंग सेंटर में प्राध्यापक हैं

अमय शुक्ला वेबनिर्माता औरएएस अधिकारी हैं



